तरुण-भारत-ग्रन्थावली सं० ६

सदाचार और नीति

लेखक

लक्ष्मीधर वाजपेयी

—:*:—

प्रकाशक

तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय,

दारागञ्ज, प्रयाग

सं० १९८३ वि०

द्वितीयावृत्ति २०००] [मूल्य ॥=)

निवेदन

तरुण-भारत ग्रन्थावली की यह नवीं संख्या लेकर आज हम अपने प्रिय पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुए हैं। इस पुस्तक का विषय "सदाचार और नीति" नाम ही से प्रकट है। इसमें सदाचार और नीति का विवेचन वैयक्तिक, कौटुम्बिक और सामाजिक दृष्टि से किया गया है। चाहे कोई एक व्यक्ति हो, अथवा राष्ट्र हो, सदाचार और नीति के नियमों का पालन करना सब के लिये बहुत आवश्यक है। तथापि वैयक्तिक चरित्र का समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

वर्तमान समय में हमारी नीति और सदाचार की उन्नति नहीं हो रही है, इसी कारण से हमारी राष्ट्रीय उन्नति भी रुकी है। ऐसी दशा में आवश्यक है कि हमारी मातृभाषा में सदाचार और नीति पर उत्तम-उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हों। आनन्द की बात है कि हिन्दी के प्रकाशकों ने इस आवश्यकता को समझ लिया है और इस विषय पर अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकल रहे हैं। साथ ही ये भी बड़े शुभ लक्षण हैं कि हमारे नवयुवक इन ग्रन्थों को बड़े प्रेम से पढ़ते हैं। हमारी यह छोटी सी पुस्तक भी, आशा है, हमारे विचारशील नवयुवकों को, उनके चरित्रगठन के कार्य में, अवश्य कुछ न कुछ सहायक होगी।

यह पुस्तक श्रीयुत केशव-लक्ष्मण किल्लेदार बी० ए०, एल्० एल० बी० की मराठी-पुस्तक "शील आणि नीतिमत्ता" के आधार पर लिखी गई है। अतएव उक्त महानुभाव के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करते हैं।

प्रयाग
आश्विन शुक्ल ५,
१९७७

लक्ष्मीधर वाजपेयी

द्वितीयावृत्ति की विज्ञप्ति

सन्तोष की बात है कि इस पुस्तक को हिन्दी संसार ने बड़े प्रेम से अपनाया। प्रयाग-महिला-विद्यापीठ और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संचालकों ने इसे धर्मशास्त्र के परीक्षार्थियों के लिये पाठ्यग्रन्थ के तौर पर स्वीकृत किया। अतएव हम उनके बड़े कृतज्ञ हैं।

पुस्तक की अधिक माँग के कारण ही इस बार। इसकी दो हज़ार प्रतियाँ निकाली जा रही हैं। इस आवृत्ति में इसका मूल्य भी घटाकर सिर्फ़ ॥≈) कर दिया गया है। आशा है कि विद्या-प्रेमी सज्जनगण उत्तरोत्तर इसका प्रचार बढ़ाकर हमारे उत्साह को बढ़ाते रहेंगे।

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

सदाचार और नीति

—— :※: ——

पहला प्रकरण

आवश्यकता और महत्व

व्यक्ति हो, चाहे कुटुम्ब हो; समाज हो, चाहे राष्ट्र हो, इन सबका कल्याण और सुख प्राय: उनके सदाचार और नीति पर अवलम्बित रहता है। सदाचार और नीति, यही कल्याण और सुख के घर हैं तथा अनीति दु:ख और आपत्ति का घर है। नीति से सुख और अनीति से दुख मिलता है, यह सिद्धान्त सदा-सर्वदा सत्य और अवाधित है। व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज अथवा राष्ट्र के सदाचार और नीति का जब ह्रास होने लगता है, तब उनके नाश का प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक इमारत की दृढ़ता उसकी नींवँ और उसके स्तम्भों की दृढ़ता पर अवलम्बित रहती है। सदाचार और नीति ही राष्ट्र-रूपी इमारत की नीवँ और स्तम्भ हैं। जिस हिसाब से ये न्यूनाधिक होते हैं, उसी हिसाब से राष्ट्र की दृढ़ता भी न्यूनाधिक होती है। इमारत बाहर से चाहे जितनी भारी और सुन्दर दिखाई दे, तथापि उसके खम्भे जब सड़ने लगते हैं, तब उस इमारत के गिरने में बिलम्ब नहीं लगता। इसी प्रकार सदाचार और नीति का जब ह्रास होने लगता है, तब

समाज निर्बल होकर अवश्य नष्ट हो जाता है। आग में हाथ डालने से हाथ अवश्य जलेगा, ऊँचे-नीचे क़दम पड़ने से चोट लगना अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार अनीति का आचरण प्रारम्भ होने से हानि कभी रुक नहीं सकती। दो और दो चार का सिद्धान्त जिस प्रकार गणित-शास्त्र में बिलकुल सत्य है, उसी प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त नीति शास्त्र में बिलकुल अखंडित है। शरीर का रक्त जब दूषित हो जाता है, तब शरीर को नाना प्रकार के रोग ग्रस लेते हैं; और अन्त में वह नाश हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज अथवा राष्ट्र का जीवन-रुधिर जो सदाचार है, उसके बिगड़ जाने से उनमें अनीति का रोग लग जाता है, और उनकी सुदशा, शान्ति और स्थिरता नष्ट हो जाती है—वे धूल में मिल जाते हैं।

मनुष्य की योग्यता सब प्राणियों में श्रेष्ठ मानी गई है। इसका कारण उसका भले-बुरे का ज्ञान अथवा विवेक है। मनुष्य को चूंकि भले-बुरे काम और उसके परिणाम का ज्ञान होता है, अतएव बुरे काम और उसके बुरे परिणाम का सारा उत्तरदायित्व उस पर आ जाता है।

> आहारनिद्राभयमैथुनं च
> सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
> धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
> धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, काम इत्यादि शारीरिक और मानसिक विकारों का प्रभाव अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य पर भी है। परन्तु मनुष्य को परमात्मा ने ज्ञान और विवेक विशेष दिया है; और इसी कारण उसको भले-बुरे, धर्म-अधर्म

के विचार की शक्ति प्राप्त हुई है—यह बात अन्य प्राणियों में नहीं है। अन्य प्राणियों में विशेष ज्ञान और विवेक नहीं होता, अतएव तात्कालिक शारीरिक आवश्यकताएं और मानसिक इच्छा तृप्त करने के अतिरिक्त और कोई विशेष कर्तव्य उनको नहीं रहता। खाना, पीना और उसको प्राप्त करने के लिए, नैसर्गिक प्रवृत्ति के अनुसार, किसी मार्ग का अवलम्बन कर लेना ही मनुष्येतर प्राणियों का कर्तव्य रहता है। उनका जीवन अत्यन्त सादा और अकृत्रिम रहता है। परन्तु मनुष्य का यह हाल नहीं। सुख-वृद्धि करने की उसकी लालसा अत्यन्त प्रबल होती है, अतएव उसके व्यापार सादे और अकृत्रिम नहीं होते; किन्तु कृत्रिम और बड़े पेंचीले होते हैं। अपने बुद्धि-बल के कारण मनुष्य अधिक सुख प्राप्त करने के प्रयत्न में रहता है; और अधिक सुख के साधन उत्पन्न करता रहता है। दूसरा बात यह है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर संघ-शक्ति और अपनी बुद्धिमत्ता के बल पर मनुष्य ने सर्वत्र अपना अधिकार जमा लिया है; और अपनी जीवन-यात्रा निष्कंटक और सुख-पूर्ण कर ली है। मतलब यह है कि मनुष्य अपने विवेक, सुख-लालसा, बुद्धि-वैभव और संघ-शक्ति के कारण, अन्य प्राणियों की भाँति, केवल नैसर्गिक और सादे व्यापारों में ही नहीं पड़ा रह गया है, किन्तु उसने कृत्रिम कौर सुखदायक व्यापार उत्पन्न किये हैं।

विवेक, सुख-लालसा, बुद्धि वैभव और संघ-शक्ति के कारण मनुष्य ने अपने सुख की वृद्धि कर ली है सही; परन्तु इससे संसार में उसका उत्तरदायित्व भी बहुत बढ़ गया है। सृष्टि का नियम ही है कि जितनी सुविधा हो, उतनी ही असुविधा भी हो। कृत्रिम जीवन के साथ ही साथ उससे सम्बन्ध

रखनेवाले कर्तव्य और उत्तरदायित्व भी उत्पन्न हुए। निस्सन्देह समाज में रहने के कारण मनुष्य को सारे सुखों का भोग मिल सकता है; परन्तु इसके साथ ही समाज और उसके भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध में उसका कर्तव्य भी तो उत्पन्न हो जाता है।

समाज में प्रत्येक मनुष्य के, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से, भिन्न-भिन्न सम्बन्ध उत्पन्न हो जाते हैं, अतएव इस बात का भी विचार करना आवश्यक है कि उनके साथ बर्ताव किस प्रकार का किया जाय। अपने सुख के साथ दूसरे के सुख का भी विचार करना आवश्यक है। वास्तव में विचार इसी बात का होना चाहिए कि सभी का कल्याण किस मार्ग से हो। मा-बाप, भाई-बहन, रिश्तेदार-नातेदार, इष्ट-मित्र, समाज और राष्ट्र के विषय में अपने कर्तव्यों को जानकर, तदनुसार बर्ताव करने का सब को प्रयत्न करना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य कोई स्वतंत्र प्राणी नहीं है। उसकी स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता का समाज के दूसरी व्यक्तियों से बहुत गहरा सम्बन्ध है; और उनके साथ उसका कुछ-न-कुछ कर्तव्य भी है, अतएव उसकी स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता की कोई सीमा होनी चाहिए, और प्रत्येक का बर्ताव ऐसा होना चाहिए कि जिससे सब के सुख और कल्याण की वृद्धि हो। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों को पूर्णतया जानकर उनके अनुसार बर्ताव करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। प्रत्येक मौके पर यथोचित बर्ताव करके प्रत्येक को अपनी निज की और अपने देश की उन्नति और कल्याण करने का सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए। मनुष्य प्राणी ऊपर-ऊपर से जितना स्वतंत्र दिखाई देता है, उतना स्वतंत्र वह

कदापि नहीं है। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय इत्यादि कर्तव्य-शृङ्खलाओं से वह ख़ूब जकड़ा हुआ है। कर्तव्य का यथोचित पालन करके ही उसको इन शृङ्खलाओं से अपना छुटकारा कर लेना चाहिए। उपर्युक्त प्रकार से अपनी निज की, और अपने देश की उन्नति जिस बर्ताव से होती है, उस बर्ताव को ही नीति का बर्ताव कहना चाहिए। इसी श्रेष्ठ नीति का सदैव यथोचित पालन करके उसकी वृद्धि करना मानो अपने सदाचार की उन्नति करना है।

प्रत्येक सुसंगठित समाज में आजकल कुछ नीति सिद्धान्त निश्चत हो गये हैं, और उनका ज्ञान तथा उनका परिचय प्रत्येक विचारशील मनुष्य को अवश्य ही होता है। प्राय: समझदार मनुष्य साधारण तौर पर यह जानता ही है कि नीति का बर्ताव कौनसा है, और अनीति का बर्ताव कौनसा है, इसमें कोई विशेष भेद नहीं है, फिर भी प्रत्येक मौक़े पर नीति-नियमों का उचितरूप से प्रतिपालन करके अपनी नीति और सदाचार की उन्नति करना मनुष्य का परम पवित्र कर्त्तव्य है।

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्

— भगवद्गीता

अर्थात्—प्रत्येक मनुष्य को अपना यथोचित कर्तव्य करके उन्नति कर लेनी चाहिये; दुष्कर्म करके अधोगति को न प्राप्त होना चाहिये। मन में अनीति के विचार न उठने देना चाहिये। नीतिनियमों का यथोचित पालन सब को करना चाहिए। अनीति के कारण यदि नीतिनियमों का पालन न होगा, तो समाज में बड़ा उपद्रव मच जायगा, क्रमशः उसकी अवनति

होकर अन्त में उसकी स्थिरता और सुदशा बिलकुल नष्ट हो जायगी। पृथ्वी की सब स्थावर-जंगम वस्तुएँ गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के कारण पृथ्वी को पकड़े हुए हैं और इसी कारण उन वस्तुओं में स्थिरता है। इसी प्रकार नीति-नियमों का जब यथोचित प्रतिपालन होता है, तब संसार की सुदशा और शान्ति स्थिर रहती है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षणशक्ति यदि न रहे, तो सब चराचर वस्तुएँ इधर-उधर दौड़ती फिरें, और अन्त में कहीं न कहीं टकराकर नाश हो जायं। इसी प्रकार नीति का यदि ठीक-ठीक पालन न किया जाय, तो चारों ओर उपद्रव मच जाय; और मानव-समाज अवनति की दशा को प्राप्त करके अन्त में नष्ट हो जाय। विस्तीर्ण समुद्र में जहाज़ पर होकायंत्र यदि न हो, तो वह दिशा भूल जाय, तथा और के और ही मार्ग में चला जाय, चट्टान में टकराकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। इसी भाँति जिस समाज में नीति-नियमों का उल्लंघन किया जाता है, उसमें अनीति बढ़ती है, वह अवनति की ओर क़दम बढ़ाते जाता है, उसमें उपद्रव और झगड़े बढ़ते ही जाते हैं; और अन्त में उसका नाश हो जाता है।

लौकिक सम्पत्ति की अपेक्षा नैतिक सम्पत्ति अधिक श्रेष्ठ है। निस्सन्देह, व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज अथवा राष्ट्र के लिये द्रव्य की आवश्यकता सदैव ही रहती है—यही नहीं, बल्कि द्रव्य के अभाव में कभी-कभी नीति भी बिगड़ जाती है; और वह अनीति के मार्ग में प्रवृत्त होने लगता है; फिर भी द्रव्य मनुष्य का साध्य नहीं है, वह एक साधन है। उसकी आवश्यकता मनुष्य को इसीलिये है कि जिससे मनुष्य का योगक्षेम चलता रहे, उसके कर्तव्य और उन्नति के मार्ग में बाधा न

आवे, उसका मार्ग द्रव्य के कारण सुविधाजनक बना रहे। वेदों में ऋषि प्रार्थना करते हैं कि, 'हे ईश्वर, हमारे पशु कुशल-पूर्वक रहें, किसी प्रकार का भी विघ्न न आवे, इसलिए हमारे धन, गोधन की रक्षा कर।' इससे साफ़ मालूम होता है कि वैदिक ऋषि द्रव्य को अपने कर्तव्य और अपनी उन्नति का साधन मात्र समझते थे। अस्तु। इसके सिवाय लक्ष्मी चंचल भी है। आज है, कल नहीं है, इसका कौन ठीक है? और जो अस्थिर तथा पराधीन वस्तु है, उसका मूल्य भी निस्सन्देह कम ही होगा। इसीलिए कहते हैं कि महापुरुष, सम्पत्ति हो, चाहे विपत्ति हो—अपना सदाचार और नीति का मार्ग नहीं छोड़ते।

उदेति सविता ताम्रः ताम्र एवास्तमेति च।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥

"सूर्य उदय होते समय भी लाल ही रहता है; और अस्त होते समय भी लाल ही रहता है। इसी प्रकार सम्पत्ति आवे, चाहे विपत्ति आवे—महापुरुषों के स्वभाव में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता।" यह बिलकुल ठीक है। इसी प्रकार राजर्षि भर्तृहरि ने भी अपने नीतिशतक में नीतिमान् पुरुषों का महत्व दिखलाया है:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

"नीति-निपुण पुरुष निन्दा करें, चाहे स्तुति करें; लक्ष्मी आवे, चाहे चली जाय; मरण आज हो जाय, चाहे युगान्तर

में हो, धीर पुरुष नीतिमार्ग से एक क़दम तक नहीं हटाते।"

इस श्लोक में नीति का मूल्य क्या ही उत्तमता से निश्चित किया गया है! कवि ने बहुत ही सख़्त ताक़ीद की है कि किसी दशा में भी हमको नीति-मार्ग से बिलकुल डिगना न चाहिए। सच ही है, नैतिक सम्पत्ति ही वास्तव में सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। उसी को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अविश्रान्त परिश्रम करना चाहिए; इसी में मनुष्य का मनुष्यत्व है। नीति और सदाचार का ऐसा ही महत्व सब ऋषियों-महर्षियों और साधु-महात्माओं ने गाया है। सारांश यह है कि, नीति का उच्च ध्येय सामने रखकर, उसको सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए, मनुष्य को अपनी संसार-यात्रा में चलना चाहिए।

नैतिक सम्पत्ति को गौण समझते हुए भौतिक सम्पत्ति को मुख्य जानकर ही यदि मनुष्य अपना व्यवहार चलावेगा, तो बड़ी गड़बड़ी पड़ेगी। इससे सदाचार का ह्रास होगा; और सब प्रकार से उसको हानि होगी। सच है, साध्य और साधन का भेद न समझते हुए यदि आचरण किया जायगा, तो हानि हुए बिना कैसे रहेगी? शरीर का जड़ भाग उसके सूक्ष्म कल्पनामय भाग से कम दर्जे का है। अतएव जड़ भाग को सुख देनेवाली भौतिक सम्पत्ति सूक्ष्म कल्पनामय भाग को आनन्द देनेवाली नैतिक सम्पत्ति से कम दर्जे की अवश्य ही होगी। लौकिक सम्पत्ति को ही परम ध्येय मानकर यदि मनुष्य नैतिक धन को गौण स्थान देगा, तो फिर वह कौन से पापाचरण में प्रवृत्त न होगा?

लोभश्चेदगुणेन किम्।

—भर्तृहरि

"यदि लोभ है, तो फिर और दूसरा अवगुण कौन चाहिए?" लोभ के चंगुल में पड़कर इस संसार में मनुष्य ने क्या-क्या अत्याचार नहीं किये? इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे कि धन, राज्य, स्त्री के लालच में पड़कर लोगों ने अत्यन्त घोर कर्म किये हैं। राज्य-लोभ के कारण ही कैकेयी के समान कोमल माता का हृदय पत्थर के समान कठोर और अत्यन्त निर्दय बन गया! भरत को राज्यप्राप्ति कराने के लिए ही उसने श्रीरामचन्द्र के समान सुशील पुत्र को भयंकर वनवास दिलाया। प्रसिद्ध आंग्ल कवि शेक्स-पियर के "हैमलेट" नाटक के राजा ने राज्य-लोभ के कारण अपने सगे भाई का किस प्रकार ख़ून किया, इसका बहुत उत्तम चित्र कवि ने खींचा है। इँगलैंड के राजा जॉन ने राज्यलोभ के कारण अपने सगे भतीजे आर्थर को क़िले में क़ैद करके अन्त में दुष्ट और निर्दय वधिकों के द्वारा उसको मरवा डाला! अस्तु। सम्पूर्ण पवित्र नीति-नियमों को एक ओर रख-कर केवल भौतिक सम्पत्ति की ही ओर जब मनुष्य बिलकुल झुक जाता है, तब उसके हाथ से इसी प्रकार के अमानुषीय अत्याचार होने लगते हैं। परन्तु अपने अतुल नैतिक तेज से चमकनेवाले छत्रपति शिवाजी महाराज ने अपने परम पूज्य गुरु श्रीरामदास स्वामी को अपना सम्पूर्ण राज्य समर्पित कर दिया; और उक्त स्वामीजी महाराज ने भी तुरन्त ही वह सम्पूर्ण राज्य-सम्पत्ति फिर शिवाजी महाराज को वापस कर दी। इस उदाहरण में दोनों महानुभावों की श्रेष्ठ नीति का बहुत अच्छा आदर्श पाया जाता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण भारतीय इतिहास में मिल सकते हैं। सच है, नैतिक धन को एकत्र करना ही जिन्होंने अपने जीवन का

उद्देश्य समझा है, उनके हाथ से ऐसे उत्तम कार्य स्वाभाविक ही होते हैं।

प्रसिद्ध अँगरेज़ ग्रन्थकार स्माइल्स साहब अपने "Character" (सदाचार) नामक सुन्दर ग्रन्थ में लिखते हैं:—

"Learning commands admiration, but character commands respect."

अर्थात् "विद्वान् मनुष्य अपनी विद्वत्ता से सबको प्रसन्न कर लेगा, परन्तु सदाचारी पुरुष अपनी नीति से लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा।" विद्वत्ता का तेज बिजली के समान बीच-बीच में चमकता रहता है; परन्तु नैतिक तेज शीतल चन्द्रप्रकाश के समान बराबर सबको सुख और शांति देता रहता है। विद्वत्ता के साथ-साथ यदि मनुष्य में नीतिमत्ता भी होती है तो मानो सोने में सुगन्ध आ जाती है। परन्तु विद्वान् मनुष्य में यदि नीतिमत्ता नहीं होती, तो उसकी वह कोरी विद्वत्ता बिलकुल निष्फल रहती है, उससे संसार को कोई लाभ नहीं होता। मस्तिष्क के साथ-साथ अन्तःकरण की वृद्धि भी आवश्यक है। श्रेष्ठ विद्या और श्रेष्ठ नीति का जब उत्तम संयोग होता है, तभी उससे मानव-समाज का कुछ लाभ हो सकता है। शरीर का रक्त कलेजे में जाकर वहाँ शुद्ध होता है; और तब फिर सारे शरीर में संचार करके मस्तिष्क में पहुँचता है। कलेजे के शुद्ध और स्वच्छ रक्त से यदि मस्तिष्क का पोषण नहीं होता, तो मस्तिष्क निर्बल और अशक्त हो जाता है—आरोग्य और स्वस्थ नहीं रहता। इसी प्रकार अन्तःकरण से द्रवित होनेवाला सद्गुणों का मधुर रस यदि बुद्धि में नहीं फैलता, तो वह बुद्धि नीरस और रूखी बनी रहती है; और उससे कुछ लाभ नहीं होता।

प्रसिद्ध अँगरेज़ तत्ववेत्ता लार्ड बेकन साहब का मत है कि, कोई भी विद्या अथवा कला हो, उसका उपयोग मानव जाति के सुख और कल्याण की वृद्धि करने में हो सकता है। तभी उस विद्या अथवा कला का कुछ मूल्य है, अन्यथा उससे कोई लाभ नहीं। स्पष्ट ही है, डब्बे में बन्द कर रखी हुई कस्तूरी चाहे जितनी सुगन्धित हो, परन्तु जब तक वह डब्बा खुल कर उस कस्तूरी का परिमल लोगों को न प्राप्त हो, तब तक उसका होना न होना बराबर है। मतलब यह है कि बुद्धि के विकास के साथ ही साथ अन्तःकरण का विकास जब तक न होगा, तब तक उस बुद्धि से कोई लाभ न होगा।

नीतिमान् पुरुष का गौरव और उसकी प्रतिष्ठा बहुत बड़ी होती है। श्रेष्ठ नीतिमत्ता का प्रभाव ही संसार पर बहुत ही विचित्र पड़ता है। जिस प्रकार लोह-चुम्बकमणि लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार नीतिमान् पुरुष दूसरे का हृदय अपनी ओर खींच लेता है। ऐसे लोगों में एक प्रकार की आकर्षणशक्ति होती है, जिससे दूसरे लोगों का हृदय उनमें तल्लीन होकर उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगता है। नीतिमत्ता में ऐसी कुछ शक्ति होती है कि जो मनुष्य उसे धारण करता है, उसके हाथ से बहुत बड़े-बड़े कार्य होते हैं। अधिक क्यों? यह कहना चाहिये कि नीतिश्रेष्ठ मनुष्यों के अतिरिक्त बड़े-बड़े कार्य और किसी से हो ही नहीं सकते। छत्रपति शिवाजी, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द, जार्ज वाशिंगटन, एब्राहम लिंकन, इत्यादि महापुरुषों के जीवनचरित्र पढ़ने से हमारे कथन की सत्यता भली भाँति प्रतीत हो जायगी।

शिवाजी महाराज की श्रेष्ठ नीतिमत्ता बहुत प्रसिद्ध है। एक बार कल्याण के सूबेदार के यहाँ से बड़ा भारी ख़ज़ाना बीजापुर के दरबार में जा रहा था। महाराज वह ख़ज़ाना लूट कर राजगढ़ पर ले आये। इससे कल्याण के सूबेदार से उनका बड़ा भारी बैर होगया। परिणाम यह हुआ कि महाराज ने आबाजी सोनदेव नामक अपने एक सरदार को कल्याण के सूबदार पर चढ़ाई करने को भेजा। आबाजी ने कल्याण पर धावा करके सूबेदार को पराजित किया और उसे क़ैद करलिया। यह समाचार सुनकर शिवाजी महाराज बड़े प्रसन्न हुए; और स्वयं कल्याण पहुँचे। वहाँ जाकर सूबेदार को उन्होंने क़ैद से छुड़ा दिया; और उसको बड़े आदर-सत्कार के साथ बीजापुर रवाना कर दिया। पराजित शत्रु के साथ उदारता का बर्ताव करना इसी को कहते हैं! इसी का नाम है श्रेष्ठ सदाचार और नीति। अस्तु। आगे जो घटना लिखी जाती है उससे महाराज के सदाचार और नीति का और भी अधिक परिचय मिलता है। उपर्युक्त सरदार आबाजी ने लड़ाई के गडबड़ में उक्त कल्याण के सूबेदार की पुत्र-बधू को भी पकड़ रक्खा था। महाराज जब कल्याणमें आये, तब आबाजी ने उनसे प्रार्थना की कि, इस लवाज़मे में एक अत्यन्त लावण्यवती युवती मिली है। उसको महाराज की सेवा के योग्य समझकर हमने रख लिया है। यह सुनकर महाराज शिवाजी ने आज्ञा दी कि, उस सुन्दरी को सभा में ले आओ। यह आज्ञा पाते ही वह सरदार उसको खूब सजाकर सभा में ले आया। महाराज उसको देखकर हँसे और बोले कि, यदि हमारी माता भी इसी प्रकार की सुन्दर होती, तो हमारा भी स्वरूप उसी के समान हुआ होता। यह सुनकर सब लोगों

को बड़ा आश्चर्य हुआ। महाराज के मनोनिग्रह पर सबको बड़ा कौतूहल हुआ; और सबको यह विश्वास हो गया कि महाराज अत्यन्त उदार महापुरुष हैं। इसके बाद महाराज ने उस स्त्री को वस्त्रालंकार देकर बड़े गौरव के साथ उसके श्वसुर के पास, जो कि बीजापुर में था, भेज दिया। यही उत्तम सदाचार और नीति है। ऐसे ही श्रेष्ठ आचरण के कारण महाराज का वह गौरव और प्रभाव था। ऐसा नीतिश्रेष्ठ पुरुष यदि बड़े-बड़े महान् कार्य संसार में कर जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य है? उस भयंकर संकट के समय में हिन्दू-धर्म की जिसने रक्षा की, उस महात्मा राजर्षि शिवाजी का सदाचार और उसकी नीति वास्तव में ऐसी होनी ही चाहिये। जिस पुरुष ने अपने मन को पूर्णरूप से कब्ज़े में कर लिया है उसे शत्रुओं को क़ब्जे में करना क्या कठिन बात है! अमेरिका के प्रसिद्ध प्रेसिडेंट जार्ज वाशिंगटन भी इसी प्रकार के महानीति-सम्पन्न पुरुष होगये हैं। अठारहवीं शताब्दी में उस देश को स्वतंत्र करने के लिये जो युद्ध हो रहा था, उसके मुखिया वाशिंगटन साहब ही थे। उन्हीं के नेतृत्व में अनाड़ी और अशिक्षित लोगों ने विजयश्री सम्पादन की थी। इन लोगों को उत्साह और स्फूर्ति दिलानेवाला वही सदाचारी और नीतिमान् पुरुष था कि जिसके कारण अमेरिका देश गुलामी की जंज़ीर तोड़कर सदैव के लिये स्वतंत्र हो गया। जार्ज वाशिंगटन जब छोटे थे, एक बार इनके पिता ने क्रुद्ध होकर पूछा कि "क्या हमारा प्रिय बेर का वृक्ष तूने ही तोड़ डाला"? इस पर निर्भयतापूर्वक इन्होंने कहा कि "हाँ पिता जी, हमने ही उसे तोड़ा है।" इस प्रकार के सत्य-प्रिय और धैर्यसम्पन्न पुरुष से जैसे महान् कार्य होने चाहिएँ,

वैसे ही वाशिंगटन के हाथ से हुए। सच है, नीति में बहुत बड़ी शक्ति होती है। सदाचार का बल संसार में सब बलों से श्रेष्ठ है। इसके आगे सैकड़ों हाथियों का बल कोई चीज़ नहीं है। छत्रपति शिवाजी और जार्ज वाशिंगटन के समान महापुरुषों के सदाचार और नीति के प्रभाव से हज़ारों लोग सत्कार्य के लिए अपने प्राण देने को तैयार हो गये। सदाचार ही एक ऐसी शक्ति है कि जिसके कारण हज़ारों मनुष्यों का हृदय एक मनुष्य की ओर खिच सकता है; और जब उनका हृदय आकर्षित हो जायगा, तब उनका शरीर क्यों न खिचेगा?

पीछे बतलाया गया है कि मनुष्यप्राणी सर्वथैव स्वतंत्र नहीं है, उसका सम्बन्ध कुटुम्ब और समाज की अन्य व्यक्तियों से भी है। इसके सिवाय मनुष्य अनुकरण करनेवाला प्राणी भी है। मानवी बुद्धि तीव्र होती है, अतएव उसमें अनुकरण करने की शक्ति भी बहुत बड़ी होती है। इसी कारण प्रत्येक मनुष्य के बुरे भले कार्यों का परिणाम न सिर्फ उसी के लिए होता है; किन्तु उस परिणाम का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है। कुटुम्ब का एक मनुष्य यदि बुरा निकल जाता है, तो वह दस मनुष्यों के बिगाड़ने का कारण बनता है। इसी प्रकार एक सदाचारी और नीतिमान् मनुष्य अपने आसपास के दस-बीस आदमियों पर अपने चरित्र का प्रभाव डालकर उनको सदाचारी बना देता है। सत्कार्य की किरणें सूर्य की किरणों की भाँति चारों ओर फैलकर अपना प्रकाश डालती हैं, और लोगों को उन्नति का मार्ग दिखलाती हैं। किसी जलाशय में जब कोई लहर उत्पन्न होती है, तब वह सिर्फ़ अपनी जगह पर ही नहीं ठहरती, किन्तु बढ़ती हुई सम्पूर्ण

जलाशय को व्याप्त कर लेती है, इसी प्रकार बुरे-भले कार्यों के परिणाम भी संक्रमणशील और व्यापक होते हैं; और इस कारण समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर उसके भले-बुरे कामों का बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ पड़ता है। यह उत्तरदायित्व प्रत्येक मनुष्य को जानना चाहिए। अनेक अज्ञानी लोग कहते रहते हैं कि "मैं अपने मन का आप राजा हूँ, मुझसे दूसरों से क्या मतलब है?" परन्तु वास्तव में उनका यह कथन बिलकुल ही अनुचित है। उनको यह ख़ूब ध्यान में रखना चाहिए कि उनके बुरे-भले कामों का हानि-लाभ न सिर्फ़ उन्हीं भर के लिए है; किन्तु उसका प्रभाव समाज पर पड़े बिना कदापि न रहेगा इस तत्व को भली भाँति समझकर ही प्रत्येक मनुष्य को संसार में अपना बर्ताव करना चाहिए।

भले-बुरे काम का परिणाम जिस प्रकार केवल कर्त्ता के लिए ही नहीं होता, किन्तु उसका क्षेत्र व्यापक होता है, उसी प्रकार उसका परिणाम केवल तात्कालिक ही नहीं होता; किन्तु न्यूनाधिक काल तक टिकता है। इस कारण कर्त्ता का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

सत्रहवीं शताब्दी में शिवाजी महाराज ने जो नैतिक तेजस्विता महाराष्ट्र प्रान्त में उत्पन्न कर दी थी, वह सारे देश में फैल गई थी; और महाराज के बाद भी अनेक वर्षों तक उक्त प्रान्त में उसका प्रभाव बना रहा था। इसी कारण मराठों का राज्य आगे भी बहुत दिनों तक बना रहा। शिवाजी की मृत्यु के बाद मुसलमान लोगों ने मराठों का राज्य फिर से ले लिया होता; किन्तु छत्रपति ने जो तेजस्विता उत्पन्न कर दी थी, वह उनके बाद के उनके बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता सरदारों में

बिलकुल मिट गई थी और इसी कारण वे महाराष्ट्र-राज्य की रक्षा करने में समर्थ हुए। यहां तक कि शिवाजी महाराज के पुत्र सम्भाजी के ज़माने में दुराचार बहुत कुछ बढ़ गया था; फिर भी शिवाजी के राष्ट्रीय तेज और उनके सदाचार के ही प्रभाव से मराठों का सितारा चमकता रहा।

शिवाजी महाराज के समान प्रतापी महापुरुष क्या अकस्मात् ही महाराष्ट्र में उत्पन्न हो गया? यदि यह कहा जाय कि इतनी बड़ी विभूति अचानक ही उत्पन्न हो गई, तो वह कथन इतिहास के सिद्धान्तों के बिलकुल विरुद्ध ही समझा जायगा। बात यह थी कि उस समय महाराष्ट्र का नैतिक वायुमण्डल अनेक साधुसन्तों के सत्कार्यों और सदुपदेशों से परिपूर्ण हो रहा था। तेरहवीं शताब्दी में, ज्ञानेश्वर महाराज के समय में, एक बार जो धार्मिक और नैतिक पवित्र ज्योति जगी, वह वैसी ही अखंड रूप से अगले तीन-चारसौ वर्ष तक चमकती रही। इस अवधि में और भी अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध साधु महाराष्ट्र में उत्पन्न हुए, जो अपने सदाचार और सदुपदेश से उक्त ज्योति को और भी अधिक तेजस्वी बनाते रहे। महाराष्ट्र में उस समय यदि वह तेजस्विता न होती, तो छत्रपति शिवाजी में सदाचार और नीति का वह बल भी शायद न पाया जाता। कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है?

सोलहवीं शताब्दी में योरप में जो धर्म-क्रान्ति हुई, उसका इतिहास देखने से भी उपर्युक्त सिद्धान्त की ही सत्यता प्रतीत होती है। सुप्रसिद्ध महात्मा मार्टिन लूथर ने अत्यन्त निर्भयता के साथ नैतिक आन्दोलन करके जो धर्म-ज्योति उत्पन्न की, वही आगे चलकर प्रबल होती गई, उसने अपने प्रकाश से

हीजारों लोगों को प्रकाशित किया और धार्मिक सुधार करके लोगों को पवित्र किया। इस धर्मक्रान्ति ने कितना बड़ा क्षेत्र प्राप्त कर लिया, उसकी ज्योति कितनी चमकदार थी, और वह ज्योति कितने अधिक समय तक चमकती रही, ये सब बातें इतिहास से भली भाँति मालूम हो सकती हैं। मतलब यह है कि बुरे-भले कार्यों के परिणाम, उनके महत्व के परिमाण से, न्यूनाधिक क्षेत्र प्राप्त करके, न्यूनाधिक काल तक टिकते हैं।

नीतिमान् पुरुष को, उसके सदाचार के कारण, बहुत उत्तम सन्तोष और सुख प्राप्त होता है, और उसके सदाचार का क्षेत्र जितना विस्तृत होता है, उतना ही उसके सन्तोष और सुख का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। इसके विरुद्ध दुराचारी मनुष्य के दुराचाररूपी इन्धन से उसकी क्षुद्र और नीच मनोवृत्तियों के जल उठने के कारण जो ज्वालाएं उत्पन्न होती हैं, उनसे उसका सारा शरीर जलने लगता है। सत्कार्यों का पवित्र प्रकाश चन्द्रप्रकाश की भाँति आनन्द देकर सदाचारी मनुष्य को आनन्दित कर देता है। सुप्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के "ओथेलो" नाटक के आयागो के समान दुराचारी मनुष्य का मन यदि खोलकर देखा जाय, तो मालूम हो जायगा कि उसका मन असन्तोष और दुःख के अंगारों से कैसा जल रहा है। सच है, दुष्ट मनोवृत्तियों के वश होकर जो मनुष्य दुष्ट कार्य ही किया करता है, उसको दुःख और परिताप के अतिरिक्त और क्या फल मिल सकता है? मनुष्यों में विवेक, जो ईश्वरी अंश है, दुष्ट और दुराचारी मनुष्य को उसके दुष्कार्यों के विषय में सदैव टोकता ही रहेगा।

सन् १८०५ में ट्राफलगार नामक मुक़ाम पर फ्रेंच और स्पेनिश जहाज़ी बेड़े का पराभव करने के लिए जिस वीर योद्धा ने अश्रान्त परिश्रम और बड़े-बड़े प्रयत्न किये, बड़े कठिन समय में जिसने अपने लोगों को कर्तव्य के विषय में अत्यन्त धैर्य और उत्साह दिलाया, जिसने बड़े बिकट अवसर पर यह स्वदेशाभिमानपूर्ण सन्देश सुनाया कि, "England expects every man to do his duty' मातृभूमि प्रत्येक मनुष्य से यह दृढ़ आशा रखती है कि वह अपना कर्तव्य पूरा करे'। उस वीर नेल्सन ने, फ्रेंच और स्पेनिश लोगों का पराभव करके, जब अपने राष्ट्र की विजयपताका उड़ाई, तब उसे अत्यन्त सुख और सन्तोष प्राप्त हुआ; और मृत्यु समय की आपत्ति भी वह, उसी सुख और सन्तोष के बल पर, सहन कर सका ! छत्रपति शिवाजी महाराज का शूरवीर सरदार बाजी-प्रभु देशपांडे भी अपनी मातृभूमि की सेवा करते-करते रणक्षेत्र में शत्रुओं के बीच में पड़कर जिस समय मारा गया, बड़े सुख और शान्ति के साथ उसने अपने प्राण विसर्जन किये। उसने शत्रुओं को अपनी महान् वीरता दिखलाकर अचम्भे में डाल दिया था, और अपने स्वामी, तथा अपनी मातृभूमि के लिए प्राण देकर अपने कर्तव्य को पूरा कर लिया था, इसी कारण अन्त में अत्यन्त सुख और शान्ति के साथ उसने अपने प्राण छोड़े ! सच है, कर्तव्यशील सदाचारी पुरुष ही अन्त में सुख की मृत्यु पाता है। मृत्यु के कष्ट को वह अपने कर्तव्य-सुख के सामने कुछ भी अनुभव नहीं करता। कर्तव्यसुख के अमृत को पान करके वह लोक-परलोक दोनों में अमर हो जाता है !

दूसरा प्रकरण

बालपन और गृह-शिक्षा

—:o:—

पानी जहाँ से निकलता है, उसका स्रोत यदि निर्मल और शुद्ध होगा, तो उससे निकलनेवाला प्रवाह भी निर्मल और शुद्ध होगा; और वह यदि अशुद्ध और मलीन होगा तो प्रवाह भी अशुद्ध और मलीन ही होगा। बस, इसी भाँति बालपन में यदि मनुष्य को सदाचार और नीति की उत्तम शिक्षा मिल जाती है; और उसके मन पर उत्तम संस्कार पड़ जाते हैं, तो बड़े होने पर भी वह सदाचारी और नीतिमान् ही निकलता है। अँगरेज़ी में एक कहावत है कि "Childhood is the father of the man" अर्थात् "बालपन मनुष्य का पिता है।" पिता में जो बातें होंगी, सन्तान में वे बातें आवेंगी। इसी भाँति बालपन में जो आदतें पड़ जायँगी, सारे जीवन बनी रहेंगी। अतएव मानवी जीवन की सब अवस्थाओं में बाल्यावस्था एक बड़े महत्व की अवस्था है; और इसी अवस्था में, विशेषकर, मनुष्य के मन पर बुरे-भले संस्कार भी पड़ते रहते हैं। सदाचार के अमृतरूप वृक्ष का बीज बालपन ही में मनुष्य के हृदय में बोया जाता है; और दुराचार के विषवृक्ष का बीज भी बालपन में ही बोया जाता है। इस प्रकार जब कि बाल्यावस्था में मन पर होनेवाले संस्कारों पर ही मनुष्य का चरित्र विशेषकर अवलम्बित है,

तब फिर कुटुम्ब के प्रौढ़ मनुष्यों को अवश्य ही इस विषय में विशेष सावधानी रखनी चाहिए कि छोटे लड़कों के मन पर उत्तम संस्कार पड़ें, जिससे उनका कोमल मन अच्छे मार्ग की ओर प्रवृत्त हो। लड़कों का पालन-पोषण और रक्षण करना जिस प्रकार मा-बाप इत्यादि कुटुम्बी जनों का पवित्र कर्त्तव्य है, उसी भाँति उनके आचरण को उत्तम बनाने की सावधानी रखना भी उनका परम पवित्र कर्त्तव्य है। लड़कों के शरीर की वृद्धि के साथ-साथ उनके सदाचार की भी वृद्धि होनी चाहिए।

मनुष्य का बुरा-भला जो कुछ चरित्र बनता है, सो बाल्यावस्था में ही बनता है; क्योंकि इस अवस्था में उसकी जिज्ञासा बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई होती है। संसार और उसकी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बालकों का मन बहुत उत्सुक रहता है। आसपास के संसार से उनका पहले विशेष परिचय नहीं होता। प्रत्येक वस्तु उन्हें नवीन और आश्चर्यजनक जान पड़ती है, उसका ज्ञान प्राप्त करने की उनमें तीव्र उत्कंठा रहती है; अतएव ऐसे बालकों के मन में ज्ञान की किरणें बहुत ही वेग के साथ प्रवेश करती हैं। बालकों के मन की दशा स्वच्छ पानी के समान होती है। स्वच्छ पानी में जिस रंग का मिश्रण किया जाता है उसी रंग का पानी भी हो जाता है। इसी भाँति बालकों के स्वच्छ और उत्कंठापूर्ण मन पर जिस प्रकार के संस्कार डाले जाते हैं, उसी प्रकार का उनका मन बन जाता है।

एक बात और भी है, बालपन में मनुष्य की सारासार-विचारशक्ति भी प्रौढ़ नहीं होती। बुरे-भले और सच-झूठ के निर्णय करने की शक्ति उसमें नहीं होती। बालकों की विचारशक्ति

चूंकि प्रौढ़ नहीं होती, अतएव आसपास वे जो कुछ देखते अथवा सुनते हैं, उसका प्रभाव उनके मन पर बहुत जल्द पड़ जाता है। आसपास की परिस्थिति की प्रतिमा उनके मन पर जैसी की तैसी अंकित हो जाती है। सच है, अप्रौढ़ और अपरिपक्व बुद्धि के बालकों को इस बात का ज्ञान और परिचय कैसे हो सकता है कि सुविचार कौन से हैं, कुविचार कौन से हैं, अथवा सदाचार कौन सा है, दुराचार कौन सा है ? इस विषय में वे सर्वथैव आसपास की परिस्थिति पर ही अवलम्बित रहते हैं। आसपास के स्थूल पदार्थों का स्थूल ज्ञान होने भर के लिए छुटपन में बुद्धि की शक्ति बढ़ती जाती है सही; परन्तु सारासार-विचार जागृत होने भर की बुद्धि में प्रौढ़ता और गम्भीरता नहीं होती ; ऐसी दशा में लड़कों की शारीरिक वृद्धि के साथ उनकी नैतिक वृद्धि भी माता-पिता इत्यादि बड़ों को ही करनी चाहिए।

हम पहले ही कह चुके हैं कि मनुष्य एक अनुकरणशील प्राणी है, उसमें भी बालपन में चूंकि बुद्धि प्रौढ़ नहीं होती, अतएव उसकी अनुकरण करने की प्रवृत्ति और भी अधिक प्रबल होती है।

> यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
>
> —भगवद्गीता

"श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, वैसा ही अन्य लोग भी करते हैं—लोग उसी के आदर्श के अनुसार चलते हैं !" भगवान् के इस वचन के अनुसार अज्ञान जन जानकार पुरुषों का अनुकरण करते हैं, इसी प्रकार छोटे-छोटे लड़के

भी स्वाभाविक ही बड़ों का अनुकरण करते हैं। बुरे-भले का ज्ञान उनको जब तक नहीं होने लगता तब तक दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति उनमें रहती ही है। सारांश यह है कि, लड़कों की जिज्ञासा और उत्कण्ठा, उनकी बुद्धि-विषयक अपरिपक्वता, और उनकी अनुकरण-प्रवृत्ति इत्यादि कारणों से उनके आसपास की नैतिक परिस्थिति का प्रतिबिम्ब उनके मन पर पड़ता रहता है। वायु जब शुद्ध और स्वच्छ होती है, तब प्रकृति निरोगी रहती है, इसी भांति आसपास का नैतिक वायुमंडल जब शुद्ध होता है, तब लड़कों का चरित्र उत्तम बनता जाता है। यह आसपास का वायुमंडल ही विशेष कर घर का वायुमंडल है।

मनुष्य के मन के बुरे-भले संस्कारों का आदि स्थान गृह है। मनुष्य में जो सद्गुण अथवा दुर्गुण होते हैं, उनका बीज गृह में ही बोया जाता है। छोटे छोटे पौधों का पहले एक छोटा सा बाग़ अथवा नर्सरी तैयार करते हैं, और उनको ठीक-ठीक बढ़ाने के लिए उनमें खाद और पानी तथा मिट्टी इत्यादि विशेष सावधानी से डालते हैं। इस प्रकार जब वे पौधे बढ़ कर कुछ कुछ बड़े हो जाते हैं, तब उस बाग़ से ले जाकर दूसरी जगह, जहाँ उन्हें लगाना होता है, लगाते हैं। बस, इसी भाँति इस विस्तृत संसार में स्वतंत्रता के साथ चलने-फिरने के पहले लड़कों की यथोचित शारीरिक और नैतिक वृद्धि करने का मुख्य स्थान घर ही है। छोटे-छोटे पौधों को, जिधर चाहें, आप झुका सकते हैं? कुम्हार अपने पात्र को चाहे जो आकार दे सकता है, इसी प्रकार छोटे छोटे बच्चों को भी घर में बुरे भले चाहे जैसे मार्ग में लगा सकते हैं। पौधा बढ़कर जब बड़ा भारी वृक्ष बन जाता है तब उसको किसी ओर झुकाना बहुत

ही कठिन, किंबहुना असम्भव भी हो जाता है, इसी प्रकार घर में लड़कों के मन पर बुरे-भले जो संस्कार होते हैं, वे आगे चलकर बहुत ही दृढ़ हो जाते हैं; और फिर उन संस्कारों का परिमार्जन करना बहुत ही कठिन हो जाता है। वृक्षों की जड़ें जब बहुत दूर तक गहरी चली जाती हैं; तब उनका उखाड़ना बहुत ही कठिन होता है, हाथी की सूंड़ का आघात भी उन पर कुछ काम नहीं करता, इसी भाँति घर में लड़कों के मन पर बुरे-भले संस्कारों का जो प्रभाव पड़ जाता है, वह फिर मानो बज्रलेप ही हो जाता है। मतलब यह है कि मनुष्य का बुरा अथवा भला निकलना बहुत कुछ उसकी बाल्यावस्था पर ही निर्भर है; और उसके मन पर बुराई अथवा भलाई के संस्कार अधिकतर घर से ही प्रारम्भ होते हैं।

घर की जगह जगह की गन्दगी निकालकर उसकी हवा स्वच्छ रखना आरोग्य की दृष्टि से आवश्यक है। गन्दगी यदि नहीं निकाल दी जायगी, तो कुटुम्ब के लोगों की आरोग्यता के लिए वह अवश्य ही हानिकारक होगी। इसी प्रकार घर का नैतिक वायुमण्डल भी शुद्ध रखना चाहिए। वह यदि बिगड़ जायगा, तो नैतिक ह्रास शुरू हो जायगा; और अनीति की प्रबलता बढ़ती जायगी। घर के अपरिपक्व बुद्धिवाले बालकों पर इस बिगड़े हुए नैतिक वायुमण्डल का बहुत ही बुरा असर पड़ता है। कारण स्पष्ट है। घर के बड़े लोगों का लड़कों पर स्वाभाविक ही बड़ा गौरव होता है, लड़के उनके विषय में बड़ी आदर-बुद्धि रखते हैं, बड़ा श्रद्धा-भाव रखते हैं, बड़ों का भी उन पर बहुत प्रेम होता है, और लड़कों का सदैव उनके साथ सहवास रहता है। इन कारणों से अपने बड़ों के समान ही बर्ताव करने की लड़कों को स्वाभाविक ही आदत

पड़ जाती है। घर के अतिरिक्त और कहीं भी लड़कों के आचरण पर प्रभाव डालनेवाले इतने कारण नहीं मिल सकते। घर के ये सभी बड़े-बड़े कारण यदि लड़कों का मन अपनी ओर खींच लें, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अवश्य ही लड़कों का कोमल मन उपर्युक्त कारणों के चक्कर में आकर अपने बड़ों का अनुकरण करने लगता है; और उन्हीं के समान लड़के बन जाते हैं। किसी कवि ने कहा है: —

कीट भृङ्ग ऐसे उर अन्तर।
मन स्वरूप कर देत निरन्तर॥

'भृङ्गी' नाम का एक कीड़ा होता है। इसमें यह विशेषता होती है कि यह जिस किसी कीड़े को पकड़कर अपने चक्कर में डालती है, उसी को बिलकुल अपना सा रूप दे देती है—फिर उस कीड़े में और उस भृंगी में कुछ भी अन्तर नहीं रहता। इसी भाँति बड़ों के अखंड सहवास में आकर यदि लड़के भी वैसे ही बन जाँय, तो इसमें आश्चर्य क्या है? उपर्युक्त कारणों से ही घर में नीति अथवा अनीति का बीजारोपण हुआ करता है। मनुष्य का बुरा अथवा भला निकलना अधिकांश में गृहस्थिति पर ही अवलम्बित रहता है। उत्तम नागरिक उत्पन्न होना उत्तम गृह-स्थिति का लक्षण है। दुष्ट और स्वार्थी लोग पर-पीड़क होते हैं, पर-पीड़ा का पाठ उन्हें घर से ही पढ़ाया जाता है। इसी प्रकार सदाचार के सद्गुण भी घर से ही प्रारम्भ होते हैं। मतलब यह है कि सद्गुणों अथवा दुर्गुणों का आदिस्थान घर ही है, अतएव प्रत्येक गृहस्थ को अपना गृह शुद्ध और निर्दोष रखना चाहिए।

प्रसिद्ध अँगरेज़ कवि और ग्रन्थकार गोल्डस्मिथ साहब कहते हैं कि घर एक छोटा सा राज्य ही है। मा बाप इत्यादि बड़े लोग इस राज्य के अधिकारी वर्ग हैं; और छोटे-छोटे बच्चे इस राज्य की प्रजा हैं। घर के अधिकारी-वर्ग का यह कर्त्तव्य है कि जो प्रजा उन पर सर्वथैव अवलम्बित है, उनके कल्याण का पूरा-पूरा ध्यान रखकर उन पर अपनी सत्ता और हुकूमत चलावें। उनको स्वयं अपना आचरण अत्यन्त शुद्ध और उच्च रखकर अपनी सन्तान के सामने अपना उच्च आदर्श रखना चाहिए। घर में जिन बुरी-भली आदतों का बीजारोपण होता है, वही आगे चलकर, अपने अनुकूल संस्कारों को प्राप्त करके, विकसित हो जाती हैं। यह अत्यन्त महत्व-पूर्ण विकास सर्वथैव घर के बड़े लोगों के आचरण पर ही अवलम्बित रहता है।

इसमें सन्देह नहीं कि लड़कों को सदाचारी बनाना घर के माता-पिता इत्यादि सभी बड़े लोगों का परम पवित्र कर्तव्य है; परन्तु लड़कों का विशेष संसर्ग चूंकि माता से रहता है, अतएव वह पवित्र कर्तव्य-भार विशेषतया माता पर ही आ पड़ता है; और यह पवित्र कार्य चूंकि स्त्रियों को करना पड़ता है, इसी कारण समाज में उनका दर्जा भी बहुत बड़ा है। मातृशक्ति के समान और कोई शक्ति भी नहीं मानी गई है। इस मानवी शरीर में बुद्धि को विचारशक्ति का मुख्य स्थान माना है; अन्तःकरण को मनोवृत्तियों का मुख्य स्थान माना है। तदनुसार समाज में बुद्धि की उन्नति करके विचारशक्ति की वृद्धि करना विशेषतः पुरुषों का काम है; और अन्तःकरण अर्थात् हृदय की वृत्तियों को उन्नत बनाकर उनका विकास करना विशेषकर स्त्रियों का कार्य्य है। इसलिए इस समाज

रूपी शरीर के सब अंग जब अपना अपना कर्त्तव्य उत्तम रीति से करेंगे, तभी इसकी उन्नति और इसका कल्याण होगा।

लड़कों का मन अपनी ओर विशेष ज़ोर से आकर्षित करके अपने समान ही उनकी वृत्ति भी बनाने का कार्य माता ही सबसे अधिक प्रबलता के साथ करती रहती है। लड़कों को अपनी ओर खींचकर उनके मन पर बुरे भले संस्कार डालने के कार्य में माता के समान और किसी का ज़ोर नहीं पड़ सकता। लड़कों की नैतिक वृत्ति पर माता के आचरण का बहुत ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है; किंबहुना यह कहने में भी अतिशयोक्ति नहीं हो सकती कि लड़कों का नैतिक जीवन बहुत कुछ माता के ही ऊपर अवलम्बित रहता है। और ऐसा होना मानवी स्वभाव और ईश्वरीय सृष्टिरचना के अनुकूल ही है। गर्भाधान-संस्कार से लेकर लड़का माता के उदर में रहकर ही, उसी के उदर अन्न-रस से, बढ़ता रहता है। बच्चा माता के हृदय में बिलकुल तदाकार हो जाता है; और उसी के शरीर में बच्चे का पिण्ड भी बढ़ता रहता है। अब बतलाइये, दो जीवों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध और कहाँ मिल सकता है? परमात्मा की विचित्र लीलाएँ जो सृष्टि में चारों ओर दिखाई दे रही हैं, उन्हीं में से यह माँ और बच्चे की निकट अवस्था तथा दृढ़ सम्बन्ध भी एक विशेष विचित्र घटना है। माता के उदर में बढ़कर जब बच्चा जन्म लेता है, तब फिर मानों वह बच्चा माता के प्राण से उत्पन्न होनेवाला दूसरा प्राण ही है। ऐसी दशा में उस बच्चे पर माता का निस्सीम प्रेम होना एक स्वाभाविक बात है। संसार में मातृ-प्रेम की समानता और कोई भी प्रेम नहीं कर सकता। यदि यह कहा जाय कि माता के उस

विशुद्ध प्रेम में अवश्य ही ईश्वरी अंश होता है, तो इसमें भी कोई अतिशयोक्ति नहीं। अस्तु। ऐसी दशा में, माता के उस दिव्य और स्वाभाविक प्रेम के कारण यदि छोटे-छोटे बच्चों का मन उसकी ओर आकर्षित हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। माता के प्रेमपूर्ण वचनों और प्रेमपूर्ण व्यवहार का प्रभाव यदि बालकों के मन पर विचित्र रूप से पड़े, तो इसमें क्या आश्चर्य है? कहा है कि मातृमुख से निकला हुआ प्रेमपूर्ण और मधुर एक शब्द दस सहस्र उपदेशकों के बोध-प्रचुर व्याख्यानों से अधिक महत्व का है। यह बिलकुल यथार्थ है। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध महापुरुषों के जीवनचरित्र पढ़ने से उपर्युक्त कथन की सत्यता सहज ही में मालूम हो जायगी। सम्पूर्ण भारत को अपने महान् सत्कर्मों से जिस पुण्यश्लोक पुरुष ने कृतार्थ कर रखा है, उस महापुरुष, अर्थात् शिवाजी महाराज को भी, सत्कार्य के 'श्रीगणेश' का प्रथम पाठ परम साध्वी माता जिजाबाई ने ही पढ़ाया था, यह बात इतिहास के पढ़ने से भली भाँति मालूम हो सकती है। निस्सन्देह शिवाजी महाराज के समान बड़ी विभूतियों में नैसर्गिक ईश्वरीय अलौकिक गुण अवश्य ही होने चाहिए; किन्तु उनकी रक्षा और उनका विकास होने के लिए उनके अनुकूल परिस्थिति की भी आवश्यकता रहती ही है। माता जिजाबाई शिवाजी महाराज के मन में सदुपदेश रूपी अमृत का सिंचन सदैव ही किया करती थीं। उस समय देश भर में गोब्राह्मणों को कष्ट देनेवाले और हिन्दू-धर्म को पददलित करनेवाले यवनों के विरुद्ध वे सदैव ही शिवाजी महाराज के मन को भड़काया करती थीं। उनका उपदेश था कि जब तक स्वराज्य की स्थापना न हो जायगी, यह धर्मग्लानि मिट नहीं

सकती। महाराज स्वाभाविक ही बड़े तेजस्वी पुरुष थे, उसमें भी महासाध्वी माता जिजाबाई सदैव उन्हें इस प्रकार का प्रखर उपदेश दिया करती थीं। फिर क्या पूछना है? महाराज के मन में हिन्दू-राज्य स्थापना की प्रबल महत्वाकांक्षा उत्पन्न होगई। सच है, जिजाबाई के समान परम सात्विक, भावुक, स्वाभिमानिनी और वीर माता जब शिवाजी महाराज के समान मातृभक्त और बुद्धिमान पुरुष को सौभाग्य से प्राप्त होगई, तब उसके अत्यन्त प्रेमपूर्ण उपदेश का वैसा उत्तम प्रभाव स्वाभाविक ही उनके चित्त पर पड़ा; और उनके हाथ से ऐसे-ऐसे अलौकिक, देशोद्धारक प्रयत्न हुए कि जिनको देखकर आज भी संसार चकित हो रहा है।

माता यदि दुर्गुणी होती है, तो दुर्गुण की ही घूंटी मनुष्य को लड़कपन में पिलाती रहती है। ऐसी दशा में उस लड़के का दुराचरणी निकलना स्वाभाविक है। फिर भी सभ्य और सुसंगठित समाज में दुर्गुणी माताएं बहुत कम पाई जाती हैं, और अपने लड़के को जान-बूझकर कुमार्ग में ले जानेवाली माताएं शायद ही कहीं हों। माताओं को यह इच्छा कभी नहीं हो सकती कि हमारा लड़का दुराचारी निकले; और उसकी बदनामी का डंका चारों ओर बजे। सभी चतुर माता-पिता यही चाहते हैं कि हमारा लड़का सद्‌गुणी बनकर सदाचार से अपनी और अपने कुल की प्रतिष्ठा और इज़्ज़त बढ़ावे। फिर भी, प्रायः माताओं के अज्ञान और अदूरदर्शिता के कारण उनका आचरण लड़कों के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। लड़कों की हानि हो—उनका आचरण ख़राब हो—ऐसी इच्छा उनकी कदापि नहीं रहती; परन्तु अपनी बुद्धिमन्दता के कारण यह बात उनके ध्यान में नहीं आती

कि हमारे किस आचरण का लड़कों के मन पर क्या प्रभाव पड़ेगा ; और अन्त में उनकी कैसी हानि होगी ! प्रायः देखा जाता है कि जब कोई लड़का कोई अनुचित कार्य कर बैठता है, तब अकसर बहुत सी माताएं इस बात पर नाराज़गी नहीं प्रकट करतीं, किन्तु उसपर पड़दा डालने का प्रयत्न करती हैं जिससे वह कार्य प्रकट न हो; और उस पर बहुत शोर-गुल न मचे। लड़के के झूठे प्रेम, अर्थात् मोह, में अंधी होकर वे यह सोचती हैं कि घर के पुरुष लोगों के कानों में कहीं यह बात न जाने पावे, जिससे हमारे लड़के की फ़जीहत हो ; और इस कारण वे उसे छिपाने का प्रयत्न करने लगती हैं ! परन्तु इस छिपाने के प्रयत्न से लड़कों की उच्छृङ्खलता के लिए और अधिक मौक़ा मिल जाता है, जिसका परिणाम अन्त में बहुत बुरा होता है। खेद का विषय है कि यह बात माताओं के ध्यान में नहीं आती। छुटपन में लड़के स्वाभाविक ही उच्छृङ्खल होते हैं, उनमें उच्छृङ्खलता की अनेक बातें पाई जाती हैं—जिसका अनुभव प्रत्येक गृहस्थ को होगा। उन उच्छृङ्खलता की बातों को उसी दम रोकना चाहिए, अन्यथा आगे चलकर बहुत प्रयत्न करने पर भी कोई लाभ नहीं होता। परन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा, माता पिता के अन्धप्रेम और लापरवाही के कारण उनकी उच्छृङ्खलता पर पड़दा ही पड़ता रहता है; जिसका परिणाम अन्त में लड़कों के लिए अत्यन्त हानिकारक होता है। संस्कृत में कहा है कि लाड़ प्यार से अनेक दोष॰ उत्पन्न होते हैं, और ताड़ना से अनेक गुण ; इसलिए शिष्य और सन्तान का लाड़-प्यार बहुत समझ-बूझकर करना चाहिये। यह देखते रहना चाहिए कि मोहान्धता के कारण कहीं लड़कों के दुर्गुणों

की ओर हमारा दुर्लक्ष तो नहीं होता ? प्रेम और लाड़ वहीं तक करना चाहिए कि जहाँ तक लड़कों में दुर्गुण न आने पावें। रोग चाहे हलका ही हो, फिर भी वह रोग ही है, उसको शरीर में बसने देना ठीक नहीं, तत्काल ही उपाय करके उसकी जड़ नाश करने का प्रयत्न करना चाहिए, अन्यथा वह बढ़ जायगा। व्यवहार में अनेक ऐसे मौके आते हैं कि लड़कों की उच्छृङ्खलता तथा उनके उपद्रवी बर्ताव पर उनको थोड़ा बहुत डाँटना पड़ता है। देखी-अनदेखी करने से हानि होती है। परन्तु जब उनके दुर्गुण ही नहीं मालूम होने पाते, तब उनको डाँटने का मौका ही नहीं मिलता; और यदि मौक़ा भी मिला, तो जब कि लड़का यह समझता है कि माता हमारे पक्ष में है, तब वह मामूली डाँट की परवा भी नहीं करता। यह दशा अनिष्ट है। माता के स्वाभाविक प्रेम के साथ ही साथ उसमें एक प्रकार की कठोरता भी चाहिए। शक्कर में सनी हुई क्विनाइन की गोली ज्वर को दूर करती है। प्रेम के साथ-साथ दूरदर्शिता पूर्ण डाँट भी लड़के के साथ दिखाना चाहिए, तभी लाभ हो सकता है। माँ-बाप के व्यर्थ लाड़प्यार और अनिष्ट लापरवाही के कारक बहुत लड़के बरबाद हो जाते हैं। इसका थोड़ा-बहुत प्रमाण घर-घर में मिलेगा।

कुटुम्ब के लोगों के साथ प्रेम से बर्ताव करने का तरीक़ा लड़कों को सिखाना चाहिए। माता-पिता इत्यादि बड़ों के प्रति भक्तिभाव तथा भाई-बहन इत्यादि के प्रति प्रेम-भाव का महत्व लड़कों के कोमल मन पर अंकित कर देना चाहिए। ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि लड़कों के हृदय में सब लोगों के प्रति सहानुभूति और प्रेम के भाव उत्पन्न हो जाँय। परमेश्वर

ने कुटुम्ब के सब लोगों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध जोड़ दिया है; और एक ही रक्त-मांस के चूंकि सभी पिंड बने होते हैं, अतएव उन सब में एक प्रकार की आत्मीयता हो जाती है। ऐसी दशा में उन सब का पारस्परिक प्रेम यदि बढ़ता जायगा, तो परमेश्वर का उद्देश्य और उसकी इच्छा सविशेष रूप से सिद्ध होगी। लड़कों के मन में यह दृढ़ भावना और श्रद्धा उत्पन्न कर देनी चाहिए कि माता-पिता इत्यादि बड़ों की आज्ञा के अनुसार चलने से हमारा सब प्रकार से कल्याण ही होगा। बड़ों की आज्ञा पालन करने की आदत उनको डलवा देनी चाहिए। इस मातृभक्ति, पितृभक्ति और गुरुभक्ति में सब प्रकार की भक्ति और प्रेम का बीज मौजूद है। देशभक्ति, स्वामिभक्ति, ईश्वरभक्ति, इत्यादि सब प्रकार के उच्च भावों के पाठ लड़कों को घर में ही सिखलाये जा सकते हैं। जो मां-बाप की ही परवा न करेगा, वह और किसकी परवा करेगा? जिसका हृदय मातृप्रेम और पितृप्रेम से पूरित नहीं होता, उसके हृदय में ईश्वरभक्ति की लहर क्या कभी उत्पन्न हो सकती है? भक्ति और प्रेम की उच्च भावना के संस्कार यदि घर में ही उत्पन्न नहीं हुए, तो फिर आगे वे कब और कहाँ उत्पन्न होंगे? देश के कल्याण के लिए मौक़ा आ जाने पर प्राण भी अर्पण करना श्रेष्ठ नागरिकों का लक्षण है; परन्तु हृदय में उज्ज्वल प्रेम उत्पन्न हुए बिना यह श्रेष्ठ भावना कहाँ से उत्पन्न होगी? इतने उच्च दर्श की प्रेम-वृत्ति एकदम कैसे उत्पन्न होगी? इस प्रकार के उन्नत स्वरूप की भक्ति की घूँटी घर में ही पिलानी पड़ती है। जितने श्रेष्ठ और प्रसिद्ध महापुरुष इस संसार में होगये हैं उनके हृदय में उज्ज्लव भक्ति का अंकुर पहले पहल घर में ही उत्पन्न हुआ

था। शिधाजी महाराज की मातृभक्ति प्रसिद्ध ही है। महाराज शिवाजी अपनी माता साध्वी जिजाबाई के वचन सदैव ही अत्यन्त वन्दनीय और अनुल्लंघनीय मानते थे। वे जब कभी किसी महत्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ करते, तब पहले अपनी परम पूज्य माताजी का आशीर्वाद ले लेते थे। जिस पुरुष में इतना विशुद्ध प्रेम और उत्कट भक्ति है, उसे सफलता क्यों न प्राप्त हो? घर में ही भक्ति और प्रेम का बीज मन में एक बार उग आने पर मानों नैतिक उन्नति की बुनियाद ही क़ायम हो जाती है। बच्चे का मन जब छुटपन में ही नीरस और प्रेम-रहित बना रहेगा तब आगे चलकर प्रेमप्रचुर मनोवृत्ति, जो प्रत्येक सत्कार्य के लिए आवश्यक है, उसमें कैसे उत्पन्न होगी? घर के अपने लोगों पर जिनका प्रेम नहीं है, उनके विषय में जिनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता, उनके दुःख पर जिनके हृदय में पीड़ा नहीं होती, उनके द्वारा दूसरों का, अर्थात् समाज अथवा देश का कल्याण क्या हो सकता है? अपने इष्टमित्र और कुटुम्बियों के विषय में आदर न रखते हुए जो लोग सार्वजनिक कल्याण करने—देश-सेवा करने—का नाटक दिखलाते हैं, उनके कार्य पर कहाँ तक विश्वास किया जा सकता है, यह कहना कठिन है। मतलब यह है कि निष्कलंक, शुद्ध और उज्वल प्रेमाङ्कुर का प्रादुर्भाव घर में ही होना चाहिए, उसी प्रेमांकुर का आगे चलकर वृक्ष बन जाता है, जो अपनी शीतल छाया से लोगों के सन्ताप का शमन करता है। अँगरेज़ी में कहावत है—

"Charity begins at home"

"दान घर से शुरू होता है"—यह बिलकुल ठीक है। घर में लड़कों के हृदय पर जब प्रेम के ऊंचे संस्कार होने

लगते हैं, तब उनकी नैतिक उन्नति होने में विलम्ब नहीं लगता। मानवी हृदय की दशा यह है कि, एक बार जब उस पर उत्तम संस्कार होने लगते हैं, तब फिर उसकी अवनति नहीं होती, उन्नति ही होती जाती है; क्योंकि जब हृदय पवित्र और उच्च प्रेम से व्याप्त होने लगता है, तब फिर उसमें अनीति-प्रवर्तक विकारों की प्रबलता नहीं होने पाती। जहाँ सच्चा प्रेम है, वहाँ द्वेष के समान कुविचारों को स्थान कैसे मिल सकता है? परस्पर भाई-बहन यदि छुटपन में प्रेम से रहकर पारस्परिक स्नेह की वृद्धि करते रहें, तो बड़े होने पर भी कभी उनमें लड़ाई-झगड़े की नौबत न आने पावेगी। किन्तु समाज में प्रायः इस विषय में बहुत ही शोचनीय दशा दिखाई देती है। सगे भाइयों में ही परस्पर कट्टर शत्रुता पाई जाती है। एक-दूसरे को देखकर मानो निगल जाना चाहते हैं! कभी-कभी तो वे एक-दूसरे को मार डालने तक को तैयार हो जाते हैं! एक ही खून के मानवी प्राणी इस प्रकार के कलंकपूर्ण कार्य करने को तैयार हों—इससे अधिक और क्या शोचनीय दशा हो सकती है? इतिहास में भाई-भाई का, पिता-पुत्र का बध करने के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं! यदि छुटपन से ही इन सबके मनमें परस्पर प्रेम-भाव उत्पन्न हो गया होता, तो यह गति न हुई होती। क्योंकि जिस हृदय में शुद्ध और पवित्र प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसमें ऐसे नीच कार्य करने की प्रवृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती। जिस हृदय में पवित्र प्रेम और सहानुभूति का वास नहीं होता, उसमें नाना प्रकार की पाप-वासना और स्वार्थभावों का प्रवेश हो जाता है। मानवी हृदय की सत्ता जब शुद्ध और पवित्र प्रेम के हाथ में रहती है तब स्वार्थ के समान द्रोही विचारों की वहाँ बिलकुल ही दाल नहीं गलने

पाती ! परन्तु जो हृदय नीरस और प्रेमरहित है, उसमें स्वार्थ-अपना प्रभाव अवश्य जमा लेता है; और परिणाम में बन्धु-द्रोह और पितृद्रोह के समान घोर पातक होने लगते हैं। इस लिए घर के माता पिता इत्यादि बड़ों को बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का यथातथ्य पर्यालोचन करके उनको यथोचित मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। उनको बच्चों के छोटे-से छोटे व्यवहार से लेकर बड़े-से-बड़े व्यवहार तक तीव्र दृष्टि रखनी चाहिए। स्वार्थ-भाव स्वाभाविक ही प्रत्येक बच्चे में थोड़ा-बहुत होता ही है। इस स्वाभाविक स्वार्थभाव में मर्यादित प्रतिबन्ध रखना चाहिए; और इस प्रकार की सावधानी सदैव रखनी चाहिए कि बालकों का पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति सदैव बढ़ती ही रहे, कभी प्रेम से, कभी डाँट से, कभी क्रोध दिखलाकर और कभी कुछ उपदेश देकर साम, दाम, दण्ड, भेद सब उपायों से बच्चों को सदैव सुमार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इस महत्वपूर्ण कार्य में कभी लापरवाही या प्रमाद को स्थान न देना चाहिए। स्वार्थ रूपी सर्प के छौने का बच्चों के मनरूपी बिल में जहाँ थोड़ा सा भी प्रवेश होगया कि फिर उससे बड़ा भारी विषैला सर्प बनते देर न लगेगी।

घर के लोगों के प्रत्यक्ष आचरण देखकर बच्चों के मन पर बुरा-भला नैतिक परिणाम बहुत जल्द और स्थायीरूप से हुआ करता है। यह बात कुटुम्ब के प्रौढ़ लोगों को अच्छी तरह ध्यान में रखनी चाहिए। सौ बार का दिया हुआ सदुपदेश शायद बच्चों के मन पर प्रभाव न डालेगा; परन्तु एक बार का किया हुआ सदाचरण का बर्ताव उनके मन पर बहुत जल्द अपना प्रभाव जमा लेगा। कहा भी है:—

"Example is better then precept."

अर्थात् "उपदेश करने की अपेक्षा प्रत्यक्ष आचरण का प्रभाव अच्छा पड़ता है।" यह बिलकुल सच है। कोरे उपदेश की क़ीमत छोटे-छोटे बच्चे भी तुरन्त ही जान लेते हैं! क्या आप नहीं देखते हैं कि एक ओर भाई-बहन को प्रेम के साथ चलने का उपदेश दिया जाता है, और दूसरी ओर घर के समझदार लोग ही परस्पर में झगड़ा-बखेड़ा किया करते हैं? ऐसी दशा में उस झगड़े-बखेड़े के प्रत्यक्ष आदर्श के सामने कोरे उपदेश का क्या प्रभाव पड़ सकता है? फलतः वह उपदेश बिलकुल व्यर्थ हो जाता है। सास-बहू का झगड़ा, देवर-भौजाई का झगड़ा, भाई-भाई का झगड़ा सदैव घरों में मचा रहता है। अब बतलाइये, बच्चे इन झगड़ों से क्या शिक्षा ग्रहण करेंगे? अवश्य ही इन झगड़ों से वे झगड़ा करना ही सीखेंगे! अस्तु। कुटुम्ब के समझदार लोगों को बच्चों के साथ सदैव प्रेम और निष्पक्षपात का बर्ताव करना चाहिए; क्योंकि पक्षपात से लड़कों के मनमें मत्सरभाव पैदा हो जाता है; और पारस्परिक प्रेम तथा सहानुभूति का सर्वथा अभाव हो जाता है। लड़कों में जब परस्पर मत्सरभाव बढ़ने लगता है, तब कुटुम्ब के बड़े लोगों पर भी इसका असर कभी कभी जा पहुँचता है; और अन्त में कौटुम्बिक प्रेम और एकता का भाव नष्ट होकर उसकी जगह कलह और वैमनस्य बढ़ जाता है। मतलब यह है कि कुटुम्ब के बड़े लोगों का आचरण उच्च, उदार, निष्पक्षपात, स्वार्थरहित और शुद्ध सरल प्रेमयुक्त होना चाहिए। इसमें यदि कुछ भी अन्तर पड़ जाता है, तो उसका प्रभाव लड़कों पर बहुत ही बुरा पड़ता है। समदृष्टि और प्रेम नष्ट हो जाता है; और उनमें नैतिक अवनति का

प्रारम्भ वहीं से हो जाता है। घर शान्ति, प्रेम, समता, सहानुभूति, उदारता, इत्यादि सद्गुणों का वासस्थान होना चाहिए। वायुमंडल में जब कि प्राणवायु और अन्य वायु उचित परिणाम से मिली रहती हैं, तभी तो वायुमण्डल की शुद्धता और स्वच्छता स्थिर रहती है; और वह सबके लिए सुखकारक होता है; परन्तु जब उन वायुओं का परिणाम बिगड़ जाता है, तब वायुमण्डल दूषित बनकर हानिकारक हो जाता है। बस, इसी भाँति घर के नैतिक वायुमण्डल में जब तक प्रेम और समता का साम्राज्य रहता है, तब तक नैतिक शुद्धता स्थिर रहती है, अन्यथा सदाचार और नीति का ह्रास होने लगता है।

घर के प्रौढ़ मनुष्यों के आचरण की ओर—विशेष कर मा-बाप के आचरण की ओर—बच्चों का ध्यान विशेष रहता है, और उनका अनुकरण वे स्वाभाविक ही किया करते हैं; इसलिए मा-बाप को परस्पर, और अन्य लोगों के साथ, बहुत ही उत्तम बर्ताव करना चाहिए। पति और पत्नी का पारस्परिक व्यवहार प्रेम, आदर और मर्यादा से युक्त होना चाहिए। संस्कृत के प्रसिद्ध कवि भवभूति ने अपने "उत्तर रामचरित" नाटक में पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध का बहुत ही मार्मिकता के साथ वर्णन किया है :—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु या।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः॥
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितम्।
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते॥

अर्थात् 'एक का जो सुख है; वही दूसरे का सुख है, और एक का जो दुःख है वही दूसरे का दुःख है। प्रत्येक दशा में और प्रत्येक अवस्था में परस्पर का प्रेम कभी न्यून नहीं होता, दिन दिन दृढ़ होता जाता है, जिससे चित्त को सदैव विश्राम और आनन्द मिलता है। इस प्रकार प्रेम से बँधे हुए दम्पति सचमुच ही बड़े भाग्यशाली हैं!" बस, स्त्री-पुरुष का बर्ताव ऐसाही चाहिये। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध ईश्वर ने बड़े चातुर्य के साथ नियोजित किया है। इस परमेश्वर-निर्मित पवित्रता के अनुसार यदि पति-पत्नी का बर्ताव होगा, तो बच्चे भी उसी के अनुसार चलेंगे; और उनकी स्वाभाविक अनुकरण प्रवृत्ति के कारण माता-पिता के उत्कृष्ट गुण उनमें भी उतर आवेंगे। परन्तु कभी कभी अज्ञानता, अनजानपन अथवा भ्रम के कारण पतिपत्नी के परस्पर बर्ताव में अनुदारता दिखलाई पड़ती है। माँ-बाप के इस प्रकार का बर्ताव जब लड़के देखते हैं, तब उनके कोमल मन पर नैतिक दृष्टि से बहुत ही हानिकारक प्रभाव पड़ता है। माँ-बाप के हृदय का प्रेम स्रोत बन्द होकर जब उनका हृदय बिलकुल शुष्क पड़ जाता है, तब फिर लड़कों के हृदय में ही प्रेम का रस कहाँ से आ सकता है?

परमेश्वर ने सन्तानरूपी अत्यन्त मूल्यवान धरोहर माँ-बाप के सिपुर्द की है। प्रमाद और लापरवाही न करते हुए उनको इस धरोहर की रक्षा बहुत ही सावधानी के साथ करनी चाहिए। घर के माता-पिता आदि प्रौढ़ लोगों को अपने सदुपदेश और सदाचार से लड़कों के सदाचार और नीति की यथोचित वृद्धि करनी चाहिए। प्रौढ़ कुटुम्बियों के असदाचार के कारण न केवल उन्हीं की हानि होती है; किन्तु

बच्चों के मन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है; और इस प्रकार समाज की भी हानि होती है। दूरदर्शिता के साथ घर के प्रौढ़ लोग यदि प्रत्येक मौके पर अत्यन्त सावधानी के साथ बर्ताव किया करें, तो समाज की नैतिक उन्नति करने का श्रेय उनको प्राप्त हो; सब का कल्याण हो; और ईश्वर की जैसी इच्छा है कि मनुष्य अपना उच्च कर्तव्य करे, तदनुसार कर्तव्य करने का महत्पुण्य उसको प्राप्त हो।

तीसरा प्रकरण

सदाचार और शिक्षा

—:*:—

पिछले प्रकरण में यह बतलाया गया है कि बाल्यावस्था में चूंकि मनुष्य की विचारशक्ति जागृत और प्रगल्भ अवस्था में नहीं होती, अतएव लड़कों के चरित्रगठन का कार्य प्राय: माता-पिता के ही अधीन रहता है। नीतिशिक्षा के लिए बाल्यावस्था का समय मनुष्य के जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण समय है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि मनुष्य के चरित्रगठन की सम्पूर्णता बाल्यावस्था के समय में ही हो जाती है। नहीं, नैतिक उन्नति के उच्च शिखर पर जा पहुँचने के लिए बहुत समय की आवश्यकता होती है। सृष्टि के जड़ पदार्थों के गुणधर्म का ज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है; सृष्टि के चमत्कारों का एक कूटक हम हल नहीं करने पाते कि दूसरा हमारे सामने तुरन्त आकर खड़ा हो जाता है। इन तमाम कूटकों को हल करने के लिए मनुष्य का एक जीवन कदापि पर्याप्त नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् चाणक्यजी ने कहा है:—

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

अर्थात् "शास्त्र अनन्त है, विद्या का पारावार नहीं है, समय बहुत थोड़ा है, विघ्न अनेक हैं। ऐसी दशा में जो सारभूत है, वही उपासनीय है। जैसे हंस पानी से दूध निकाल लेता है।" यह कथन बिलकुल सत्य है। परमेश्वर-निर्मित सृष्टि के चमत्कारों का उद्घाटन करके उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना मानवी बुद्धि के लिए बहुत कठिन है। इसी प्रकार अन्त-सृष्टि का अथवा सूक्ष्म कल्पनामय जगत् का, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके, तदनुसार आचरण करना भी बहुत कठिन है। जब ऐसी दशा है, तब नैतिक उन्नति की उच्च सीढ़ी पर एकदम अनायास कैसे जा सकते हैं? घर में बाल्यावस्था में मन पर जो संस्कार होते हैं, उनको साथ लेकर मनुष्य प्रौढ़ा-वस्था में प्रवेश करता है, उस समय उसकी विचारशक्ति जागृत होकर प्रगल्भ होने लगती है। फिर उसे दूसरे की सहायता की आवश्यकता कम रह जाती है। पहले मुकाम की सब नैतिक निर्वाहसामग्री लेकर अब इसके आगे का मार्ग चलना है। बालक जो माता का दूध पीता है, सो इसलिए नहीं कि वह उसके मिठास को जानता हो। नहीं, मिठास का ज्ञान उसे कुछ भी नहीं रहता, सिर्फ स्वाभाविक रूप से पीता है, इसी भांति बाल्यावस्था में बच्चे के मन पर जो बुरेभले संस्कार होते हैं, वे भी आप ही आप, उसको मालूम न होते हुए, स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं। विचारशक्ति चूंकि उनकी निद्रितावस्था में होती है, अतएव आंखों से जो कुछ वे देखते हैं, अथवा कानों से जो कुछ वे सुनते हैं, उसकी प्रतिमा उनके मन पर प्रतिबिम्बित होती रहती है। इस अवस्था के आगे की अवस्था में लड़कों के विचार को, जो कि जागृत होजाते हैं, ठीक मार्ग में लगाना होता है। यह

काम, उनकी शक्ति के अनुसार, उनको उचित शिक्षा देकर करना पड़ता है। मतलब यह है कि बाल्यावस्था समाप्त करके मनुष्य जब प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करता है तब उसकी शिक्षा का आरम्भ होता है। लड़के की बुद्धि, जो उस समय जागृत होती है, उसका विकास प्रौढ़ावस्था में ही किया जाता है। जैसे फूल की कली प्रभात में सूर्य की किरणों से खिलती है, उसी भाँति बुद्धि और हृदय का विकास शिक्षा के योग से होता है। उत्तम कारीगर अपने कौशल से पाषाण के टुकड़े की एक उत्तम मूर्ति तैयार कर देता है, पाषाणखण्ड की इधर-उधर की निकली हुई नोकें तराश कर उससे सुन्दर पुतला निकाल लेता है। इसी भाँति मानवी बुद्धि और हृदय के दोषों को निकाल कर, उनको शुद्ध, निर्दोष और निष्कलंक बनाने का पवित्र काम शिक्षा का है।

अच्छा, अब इस बात का विचार करना चाहिये कि शिक्षा का मनुष्य की नीति से कहाँ तक सम्बन्ध पहुँचता है, और उसका मनुष्य के चरित्र अथवा सदाचार पर क्या प्रभाव पड़ता है।

स्थूल दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ता है कि, शिक्षा मुख्यतया दो प्रकार की है। मान लीजिए, शरीर के मुख्य भाग दो हैं। ऐसी दशा में उन दोनों भागों की उपयोगिता बढ़ानेवाली शिक्षा भी दो ही प्रकार की होनी चाहिये। ये मुख्य दो भाग शरीर और मन हैं, अतएव इन भागों की ठीक-ठीक वृद्धि करके उनकी उपयोगिता बढ़ानेवाली शिक्षा भी दो प्रकार की हुई। एक शारीरिक शिक्षा और दूसरी मानसिक शिक्षा। इसी प्रकार मनुष्य के मन के भी स्थूल रीति से दो भाग, अर्थात् बुद्धि और

हृदय, माने जा सकते हैं। इसलिए बुद्धि की वृद्धि करके उसको उन्नत करनेवाली शिक्षा बुद्धि-विषयक अथवा बौद्धिक शिक्षा कही जायगी ; और हृदय की वृत्तियों का विकास करके उनकी उन्नति करनेवाली शिक्षा को नैतिक शिक्षा कहेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर शिक्षा के तीन भेद हो जाते हैं—(१) शारीरिक शिक्षा ; (२) बौद्धिक शिक्षा ; और (३) नैतिक शिक्षा। अब पहले शारीरिक शिक्षा का विचार करेंगे। महाकवि कालिदास ने कहा है कि :—

शरीरमाद्यं खलुधर्मसाधनम्।

अर्थात् शरीर ही से सम्पूर्ण धर्म सधते हैं। इसी भाँति अँगरेज़ी में भी एक कहावत है कि :—

"Sound mind in a sound body."

अर्थात् "एक सुदृढ शरीर में ही एक सुदृढ़ मन भी रह सकता है। ये कथन सर्वथा सत्य हैं। संसार में हम प्रतिदिन देखा ही करते हैं कि जो मनुष्य निर्बल और कमज़ोर होते हैं, वे चिड़-चिड़े अस्थिर और डरपोंक होते हैं। कारण स्पष्ट है— शरीर का मन पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। शरीर जब स्वस्थ और सुदृढ़ होता है, तब मन भी निर्भय, आनन्दयुक्त, उत्साहपूर्ण, प्रबल और स्थिर होता है ; और शरीर जब रोगी तथा निर्बल होता है, तब मन भी आलसी, डरपोंक और निर्बल बन जाता है। इसलिए समाज और राष्ट्र की यदि उन्नति करनी है, यदि समाज और देश को कार्यक्षम और ज़ोरदार बनाने की इच्छा है, तो शरीर, जोकि कर्तव्य-साधन का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, को सुदृढ़ और आरोग्य बनाने का प्रयत्न पहले करना चाहिए।

छुटपन से ही लड़कों के शरीर की ओर विशेष ध्यान रख कर उनको बलवान बनाना चाहिए। शारीरिक व्यायाम लड़कों से अवश्य कराना चाहिये। शरीर की पूर्ण वृद्धि करने, उसको सुदृढ़ और हट्टा-कट्टा बनाने के लिए व्यायाम की बड़ी आवश्यकता है। शास्त्र में व्यायाम के लाभ इस प्रकार बतलाये गये हैं :—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं स्थैर्यं क्लेशसहिष्णुता।
दोषक्षयोऽग्निवृद्धिश्च व्यायामादुपजायते॥

अर्थात् "व्यायाम से फ़ुर्ती, काम करने की ताक़त, स्थिरता, कष्ट सहने की शक्ति प्राप्त होती है, शारीरिक और मानसिक दोषों का क्षय होता है; और भोजन ख़ूब पचता है। ये व्यायाम से बहुत बड़े-बड़े लाभ हैं; जिनकी हमारे जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है। व्यायाम के साथ-साथ शारीरिक बल प्राप्त करने के लिए उत्तम पुष्टिकारक भोजन की भी बहुत आवश्यकता है।

शारीरिक शिक्षा के विषय में प्रायः हमारे देश में बहुत ही उदासीनता दिखाई देती है। हमारे यहाँ के लोग यह बिलकुल ही नहीं समझते कि शारीरिक शिक्षा, शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। लड़के को सब परीक्षाओं में बराबर उत्तीर्ण होता हुआ देखकर मां-बाप को आनन्द होना एक स्वाभाविक बात है; परन्तु साथ ही लड़के की शारीरिक शिक्षा की ओर बिलकुल ही ध्यान न देना अत्यन्त खेद की बात है। शरीर के विषय में इस प्रकार की लापरवाही राष्ट्रीय दृष्टि से बिलकुल अक्षम्य है। भावी सन्तान के लिए तो वह और भी अधिक हानिकारक है। शरीर

जब निर्बल होता है, तब मन ठीक-ठीक काम नहीं करता। उसकी स्थिरता नष्ट हो जाती है। निर्बलता के कारण मन में नाना प्रकार के क्षणिक विचार उठा करते हैं, उन विचारों को साधने की शक्ति जाती रहती है। किसी एक भी विचार को पकड़कर उसको पूर्ण करने का साहस नहीं होता; और न शक्ति ही होती है। मन सब प्रकार शिथिल हो जाता है। किसी भी सत्कार्य के करने में जिस मानसिक बल और जिस मानसिक उत्साह की आवश्यकता होती है, वह मनुष्य में नहीं रहता। परन्तु शरीर यदि सुदृढ़ और बलवान होता है तो मन उत्साहित और शक्तिशाली बना रहता है; और प्रत्येक सत्कार्य के करने का साहस तथा सामर्थ्य बना रहता है। ग्रीस देश में स्पार्टा नामक एक प्रान्त है। वहां पूर्वकाल में लायकरगस नामक एक अधिकारी क़ायदे-क़ानून का प्रसिद्ध रचयिता हो गया है। प्रजा को सुदृढ़ रखने के लिए वह बड़े-बड़े कठोर क़ानून और नियम बनाता तथा बड़ी सख़्ती के साथ उनका पालन करता था। बहुत दिन तक उन कठोर नियमों पर प्रजा चलती रही, अतएव स्पार्टा की प्रजा ख़ूब सुदृढ़ हो गई; और आगे चलकर स्पार्टन लोग कितने पराक्रमी बन गये; और स्पार्टा की सेना पराक्रम और शूरता के विषय में कैसी प्रसिद्ध हो गई, सो ग्रीस के इतिहास से भली भाँति मालूम होता है *। स्पार्टा की स्त्रियां भी, लड़ाई पर जाते समय, अपने लड़कों को यह उत्साह वर्धक और स्फूर्ति-कारक उपदेश दिया करती थीं कि, लड़ाई में पीठ दिखला

---

*यह इतिहास "तरुण-भारत-ग्रन्थावली" में निकल चुका है।

कर मत लौटना; लड़ते-लड़ते, मौक़ा आ जाय तो, अपने देश और जाति के लिए प्राण समर्पित करना, परन्तु पराजय से मुहँ काला करके घर न लौटना! देखिये स्त्रियों का हृदय अत्यन्त कोमल होता है, और वे डरपोक भी समझी जाती हैं; फिर भी शारीरिक शक्ति के कारण वे कैसी निर्भय बन जाती हैं! शारीरिक जोश के कारण मन भी कैसा प्रबल और कार्यक्षम बन जाता है, इसका यह एक उत्तम उदाहरण है। प्रत्येक सत्कार्य को पूर्ण करने के लिए जिस सामग्री की आवश्यकता होती है, उसकी तैयारी शरीर के सुदृढ़ हुए बिना नहीं हो सकती। यह एक सामान्य सिद्धान्त है। सम्भव है, किसी पुरुषश्रेष्ठ की स्वाभाविक प्रवृत्तियां नीति के दृष्टि से बहुत उच्च श्रेणी की हों, और इस कारण शारीरिक निर्बलता उसके लिए विशेष रूप से बाधक न होती हो, ऐसा हो सकता है, परन्तु फिर भी, इस अपवाद से, उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्त की सत्यता नष्ट नहीं होती। तपे हुए डब्बे में यदि शीतल चन्द्रकान्त मणि रक्खा जाय, तो उस डब्बे की थोड़ी-बहुत आँच उस मणि में अवश्य ही लगेगी। इसी भाँति निर्बलता के कारण जिसका मस्तक क्षीण हो चुका है, और जो बहुत जल्द गर्म हो उठता है उसमें स्थिरता, शीतलता और शान्ति इत्यादि जो कि सत्कार्य के लिए उपयोगी गुण हैं, वे कैसे रह सकते हैं?

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, दूसरे प्रकार की शिक्षा मानसिक शिक्षा है, जिसके दो प्रकार ऊपर बतलाये गये हैं, (१) बौद्धिक शिक्षा; और (२) नैतिक शिक्षा। शारीरिक शिक्षा का नैतिक वृत्तियों से क्या सम्बन्ध है, सो थोड़े में ऊपर बतलाया है। अब यह देखना चाहिए कि, मानसिक शिक्षा के प्रथम

अंग, अर्थात् बौद्धिक शिक्षा का नैतिक वृत्तियों से क्या सम्बन्ध है।

जिस शिक्षा के द्वारा मनुष्य की बुद्धि तीक्ष्ण होती है; विचार-शक्ति बढ़ती है; सत्यान्वेषण करने की विचार-प्रणाली और उसके नियमों का ज्ञान होता है; वस्तुओं के कार्य-कारण-भावों के जांचने की शक्ति बढ़ती है; विचारों की चंचलता नष्ट होकर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने की आदत पड़ती है—ऐसी सम्पूर्ण शिक्षा का अन्तर्भाव बुद्धि विषयक शिक्षा में हो जाता है। सारांश यह है कि भिन्न-भिन्न विषयों का परिशीलन करते हुए जिस शिक्षा के द्वारा बुद्धि में प्रखरता आवे, और विचार-प्रणाली शुद्ध तथा निर्दोष बने, वही बुद्धि-विषयक शिक्षा है।

प्रत्येक बात का अचूक और सांगोपांग विचार करने की शक्ति और आदत, अशिक्षित मनुष्यों की अपेक्षा सुशिक्षित मनुष्य में साधारणतः विशेष होती है। अनाड़ी और अशिक्षित मनुष्य की दृष्टि संकुचित होती है; और विचारशक्ति मन्द होती है। सुशिक्षित मनुष्य प्रायः निराधार सिद्धान्त, केवल अपनी वाचलता में आकर, प्रकट नहीं कर सकता। बहुत सोच-समझकर, सत्यशोधन की सामग्री एकत्र करके, उससे सरल और जितना अचूक सिद्धान्त वह निकाल सकेगा उतना ही प्रकट करेगा। इसी प्रकार से विचार करने की उसकी आदत पड़ जाती है; और इस कारण उसकी बौद्धिक शक्ति बढ़ती जाती है। किसी विषय का भो ज्यों-ज्यों उसे व्यवस्थित और उपपत्ति-सहित ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी उस विषय में ही गति होती जाती है, यही

नहीं, बल्कि उसकी बुद्धि का विकास होता जाता है, और उसकी बौद्धिक शक्ति बढ़ती जाती है।

सुशिक्षित मनुष्य की बुद्धि, जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, एक ख़ास तरफ़ को झुक जाती है; और इस कारण नीतिशास्त्र के इन साधारण सिद्धान्तों का रहस्य उसे भली भाँति मालूम होने लगता है कि, मनुष्य को मनुष्य के साथ बर्ताव कैसा करना चाहिए, सद्गुण क्या हैं, दुर्गुण कौन से हैं, अनीति के बर्ताव से क्या हानि होती है, इत्यादि. इत्यादि। फलत: साधारण तौर से उसके विचार और आचार में कल्याणकारक अन्तर पड़ने लगता है। प्रत्येक सुसंगठित समाज में नीति विषयक सिद्धान्त प्रचलित होते हैं; और उनका ज्ञान उस समाज के समझदार लोगों को होता ही है। समाज के प्रचलित नीतिविषयक विचारों में ही चूंकि प्रत्येक मनुष्य छोटे से बड़ा होता है, अतएव उसके मन पर उनका प्रभाव भी पड़ता रहता है, तथापि शिक्षा के द्वारा इन प्रचलित विचारों का यथोचित ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति आती है, और उनका पूर्ण रहस्य और महत्व मालूम होता जाता है। सारांश यह है कि सुशिक्षित मनुष्य को चूंकि यह भली भाँति मालूम हो जाता है कि, सदाचार कौन सा है, दुराचार कौन सा है, कर्तव्य कौन सा है; और उसको ठीक तौर से बजाने के लिए कौन-कौन से सद्गुणों की आवश्यकता होती है, इस कारण उसके हृदय पर अनुकूल संस्कारों का प्रभाव होता है, और इसलिए उसके हृदय का विकास होने में सहायता मिलती है।

बौद्धिक संस्कार का प्रभाव उपर्युक्त रीति से मनुष्य के हृदय पर होता है सही, परन्तु फिर भी अक्सर देखा जाता

है कि सुशिक्षित मनुष्य भी, सब-कुछ जान-बूझकर भी, उसके अनुसार अमल नहीं कर सकता। निस्सन्देह, यह बात सच है कि, साधारण शिक्षा के द्वारा नैतिक सिद्धान्तों का तात्विक और स्पष्ट ज्ञान सुशिक्षित मनुष्य को हो जाता है ; परन्तु, फिर भी इससे कुछ पूरा-पूरा काम नहीं चलता।

बुद्धि विषयक शिक्षा के साथ ही साथ नीति-शिक्षा की भी आवश्यकता रहती है। बुद्धि के विकास के साथ ही साथ सद्वृत्तियों का भी विकास होना चाहिए। अतएव शिक्षा-प्रणाली में नीति-शिक्षा का भी प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। मानवी हृदय के वृत्ति-विकास का कार्य्य बराबर जारी रहना चाहिए। अन्तःकरण पर सद्बोधामृत का सिंचन सदैव करते रहना चाहिए। सदाचार से कल्याण और दुराचार से कष्ट मिलता है, इस विषय के पाठ सदैव विद्यार्थियों को पढ़ाते रहना चाहिए ; और इसके सिद्धान्त उनके मन पर अच्छी तरह अंकित कर देना चाहिए। क्षुद्र, नीच और हानिकारक कार्यों का निषेध और उच्च तथा श्रेष्ठ कार्यों का विधान सदैव विद्यार्थियों के सामने करते रहना चाहिए। एक बार बुद्धि का विकास करना शायद उतना कठिन काम नहीं है ; परन्तु नैतिक वृत्तियों का यथोचित विकास करके उनकी उन्नति करना बहुत ही कठिन है। अतएव, जहां तक हो सके, इस कार्य्य को पूर्ण करने के लिए ख़ूब प्रयत्न होना चाहिए; और इसके लिए शिक्षा-प्रणाली में नैतिक शिक्षा का प्रवेश अवश्य होना चाहिए। स्वर्णकार अपने हथौड़े से ख़ूब ठोंक पीटकर जिस प्रकार सुवर्ण का आभूषण तैयार करता है, उसी भांति हृदय पर सदुपदेश का पूरा-पूरा प्रभाव डालकर उसको शुद्ध और सुन्दर बनाना चाहिये। उसकी अशुद्धता

दूर करके उसका स्वरूप मनोहर और रमणीय बनाना चाहिए। भृङ्गी किसी भी कीड़े को पकड़कर उसके आसपास बराबर घूमकर उसको अपने ही समान बना लेती है। इसी प्रकार अव्याहत रूप से सदुपदेश के द्वारा हृदय की वृत्तियों को उन्नत बनाना चाहिए।

परमेश्वर के अतर्क्य चातुर्य और लीला से बना हुआ यह मानवी हृदय मानो सद्गुणों और दुर्गुणों की एक घड़िया है। इस घड़िया में सद्गुण और दुर्गुण बीजरूप से रहते हैं। इस घड़िया को शुद्ध करने के लिए इसको शिक्षण-संस्कार-रूपी अग्नि में रखकर दुर्गुणों का बीज भस्म कर देना चाहिए, इससे सद्गणों का बीज सतेज और शुद्ध हो जायगा। हृदय की शुद्ध और पवित्र सद्गुणज्योति दुर्गुणों के धुएं से आच्छादित होकर धुंधली हो जाती है। इसलिए इस धुएं को दूर करके सद्गुणों की ज्योति को चमकाकर हृदय की वृत्तियों को उन्नत बनाना चाहिए। प्रसिद्ध तत्ववेत्ता बेकन साहब कहते हैं:—

"knowledge proceeds from wonder."

अर्थात् "आश्चर्य से ज्ञाननिष्पत्ति होती है!" किसी बात के विषय में भी जब पहले पहल आश्चर्य मालूम होता है, तभी उस बात का ज्ञान प्राप्त करने की मनुष्य में उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। यह बात जैसे बुद्धि के विषय में कही जा सकती है, वैसे ही हृदय के विषय में भी कही जा सकती है। हृदय भी जब आश्चर्य से चकित होता है; और उस पर आश्चर्य के संस्कार होते जाते हैं, तब वह विकास को प्राप्त होता जाता है। सद्गुणों के विषय में जब हृदय में आश्चर्य-वृत्ति बढ़ने लगती है, तब हृदय के सद्गुणों की ज्योति अधि-

काधिक तेजस्वी होती जाती है। सद्गुणों के विषय में आश्चर्य-चकित होनेवाला अन्तःकरण जिस प्रकार उन्नत होता जाता है, उसी प्रकार दुर्गुणों के विषय में जब हृदय में घृणा होने लगती है, तब वह दुर्गुणों से दूर होने लगता है। मतलब यह है कि जब सद्गुणों के विषय में आश्चर्य के संस्कार और दुर्गुणों के विषय में घृणा के संस्कार हृदय पर होते जाते हैं, तब हृदय की सद्वृत्तियों का विकास होता जाता है; परन्तु ये आश्चर्य और घृणा के संस्कार शिक्षा के द्वारा ही हृदय में उत्पन्न किये जाते हैं। रानी एलिज़ाबेथ के ज़माने में स्पेनिश लोगों के साथ ज़टफेन में जो लड़ाई हुई, उसमें प्रसिद्ध वीर सर फ़िलिप सिडने रणभूमि में व्याकुल होकर गिर पड़ा। उस समय उसको बहुत ही तृषार्त जानकर किसी ने जल का प्याला उसके सामने उपस्थित किया; परन्तु जब उसने देखा कि एक और सिपाही उससे अधिक घायल होने के कारण तृषा से व्याकुल हो रहा है, तब उसने वह प्याला उसके आगे बढ़ाकर कहा:

"Thy need is greater than mine,"

अर्थात् "मेरी अपेक्षा तुझको पानी की विशेष आवश्यकता है।" अहा! कैसा आश्चर्यकारक स्वार्थत्याग है! ऐसे स्वार्थत्याग के वृत्तान्त से हृदय में आश्चर्य की लहर क्यों न उत्पन्न हो? और ऐसी आश्चर्यजनक बातों से यदि हृदय की वृत्तियाँ चकित होकर उन्नत बन जावें, तो इसमें आश्चर्य क्या है? हृदय की सकुची हुई सद्गुणों की कली ऐसे ही आश्चर्यजनक संस्कारों से धीरे-धीरे विकसित होनी चाहिए। इतिहास में स्वामिभक्ति, देशभक्ति, इत्यादि के अनेक आश्चर्यजनक उदाहरण पाये जाते हैं। उनका आदर्श यदि विद्यार्थियों के

सम्मुख मनोरंजक रूप से रखा जाय, तो अवश्य ही उनके मन में सद्वृत्तियों का उभाड़ होगा। इस प्रकार की आश्चर्यजनक ऐतिहासिक घटनाओं का स्मरण दिलाकर ही मन के सद्-गुणों के अंकुरों की वृद्धि करनी होती है। सद्वृत्तियों का उद्दीपन करनेवाले अवसरों का चित्र जब मन पर भली भाँति अंकित किया जाता है, तब मन में आश्चर्य और प्रसन्नता के उत्तम संस्कार उत्पन्न होते हैं; और वह उन्नत होता है। पूर्व काल में ग्रीस देश की सत्ता कुछ समय तक ज़ुल्मी लोगों के हाथ में रही थी। उन लोगों ने प्रसिद्ध तत्ववेत्ता और साधु पुरुष साक्रेटीस (सुकरात) पर यह मिथ्या अपराध लगाया कि वह एथेंस के लड़कों को बुरी शिक्षा देकर उनको खराब करता है। साक्रेटीस ने अपने को निरपराध बत-लाते हुए उनके सामने बहुत कुछ प्रमाण उपस्थित किये; किन्तु कोई फल न हुआ! अन्त में उन दुष्टों ने, जो कि एक प्रकार से उसका नाश करने पर तुले हुए थे, उसको देहान्त-दण्ड देने का निश्चय किया! महात्मा साक्रेटीस इस पर बिलकुल नहीं डगमगाया। और जब विष का प्याला पीने के लिए उसको दिया गया; तब वह आत्मा के अमरत्व पर अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए, बड़ी प्रसन्नता के साथ उसको पी गया! इस धैर्य का भी कहीं ठिकाना है! ऐसे अपूर्व अवसर का चित्र यदि विद्यार्थियों के हृदय-पटल पर चातुर्य और मनोरंजन के साथ अङ्कित किया जाय, तो निस्सन्देह उनका हृदय विशाल और उन्नत हो सकता है। ऐसी नीतिपूर्ण घटनाओं से हृदय की निद्रितावस्था में रहनेवाली धैर्यवृत्ति जागृत हो उठती है; और मन उन्नति की ओर आगे बढ़ता है। इसी प्रकार ऐसे अवसरों का

चित्र भी विद्यार्थियों के हृदय पर अङ्कित करना चाहिए कि जिनसे दुर्गुण और दुराचार के विषय में उनके मन में अत्यन्त घृणा और तिरस्कार उत्पन्न हो। हृदय की जिस नैसर्गिक वृत्ति को सद्गुण के विषय में आदर मालूम होता है, उसी वृत्ति को दुर्गुण के विषय में तिरस्कार भी मालूम होता है। राजा जॉन ने अपने सगे भतीजे प्रिंस आर्थर को टावर में (अँधेरे गुम्बज़ में) बन्द करके अन्त में जल्लादों के द्वारा उसके प्राण हरण कराये! ऐसे नीच घृणित कार्य के विषय में विद्यार्थियों के मन में उद्वेग उत्पन्न होना चाहिए। ऐसे रोमांचकारी कार्य का स्वरूप और परिणाम विद्यार्थियों के मन पर स्पष्टरूप से प्रतिबिम्बित हो जाना चाहिए; और उनका मन उद्वेग, तिरस्कार तथा घृणा से व्याप्त हो जाना चाहिए। यह बात इतिहास-प्रसिद्ध है कि औरंगज़ेब बादशाह ने उन्मत्तता-पूर्वक अपने पिता को जेल में डाल दिया; और अपने सगे भाइयों के साथ भी अत्याचार करके बादशाही सिंहासन स्वयं छीन लिया। इसी प्रकार के उदाहरणों से विद्यार्थियों को यह भली भाँति दिखला देना चाहिए कि अपने पवित्र कर्तव्यों को भूलकर लोभ के कारण मनुष्य किस प्रकार पशु के समान नीच कर्म करने लगता है, इससे नीच कर्मों के प्रति उनके मन में घृणा उत्पन्न हो जायगी; और वे ऐसे कर्मों से बचे रहेंगे। मानवी स्वभाव की श्रेष्ठ वृत्तियों का उच्च स्वरूप और घृणित वृत्तियों का नीच स्वरूप जब विद्यार्थियों के हृदय पर अङ्कित कर दिया जाएगा, तब उनका हृदय नीच कार्यों से घृणा करता हुआ उच्च कार्यों की ओर प्रवृत्त होगा; और वे सदाचारी बनते जायँगे।

उपर्युक्त रीति से विद्यार्थियों के हृदय के वृत्तिविकास का

कार्य होना चाहिये ; और उनकी शिक्षाप्रणाली में ऐसे विषयों का समावेश अवश्य होना चाहिए कि जिनके द्वारा वे अपनी नैतिक उन्नति कर सकें । इतिहास, काव्य, जीवनचरित्र, नीतिविशिष्ट उपन्यास और नाटक, इत्यादि विषयों को शिक्षा-प्रणाली में महत्व का स्थान देना चाहिये।

व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र की उन्नति अथवा अवनति किन कारणों से होती है, दुर्गुणों का नाश और सद्‌गुणों का विकास हुए बिना व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्रों का अभ्युदय नहीं होता, पिछले अनुभवों से आगे किस प्रकार लाभ उठाया जाय, किसी विशिष्ट समय में किसी विशिष्ट राष्ट्र के पतन के समय उस राष्ट्र का नैतिक तेज कैसा नष्ट हो गया था, इत्यादि सिद्धान्तों का तात्विक ज्ञान इतिहास से प्राप्त होता है ; और इसीलिए ऐतिहासिक ज्ञानरूपी धरोहर की राष्ट्र को अत्यन्त आवश्यकता रहती है। जिस राष्ट्र के पास ऐतिहासिक सामग्री नहीं है, वह मानो अन्धकार में ही भटकता फिरेगा ! जैसे लड़कों को उनके कल्याण का मार्ग दिखलाने वाले बुजुर्ग लोग होते हैं, उसी भांति यह जानने के लिए कि किसी राष्ट्र के लिए कल्याणकारक मार्ग कौन सा है, इतिहास एक उत्तम साधन है। प्रसिद्ध विद्वान् एडमंड बर्क साहब का कथन है कि, जिस राष्ट्र के पास पिछला इतिहास नहीं है, उस राष्ट्र के पास अगला इतिहास कहां से आवेगा ? इतिहास के परिशीलन से न सिर्फ़ नैतिक सिद्धान्तों का ही तात्विक ज्ञान प्राप्त होता है ; किन्तु हृदय की वृत्तियों का विकास होने में भी बहुत सहायता मिलती है ; क्योंकि इतिहास राष्ट्र के सद्‌गुण-समुच्चय का दर्पण है । इस दर्पण में बड़ी-बड़ी विभूतियों और उनके बड़े-बडे़ गुणों का ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब

उतरा हुआ होता है। राष्ट्र के महापुरुष और उनका उच्च, श्रेणी का नैतिक तेज चूंकि इस दर्पण में देखने को मिलता है, अतएव मनुष्य के हृदय पर उसका बहुत उत्तम प्रभाव पड़ता है; और उसका क्रमशः विकास होता जाता है। जब हम को अपने नेत्रों के सामने इस बात का स्पष्ट आदर्श दिखाई देगा कि हमारे ही पूर्वजों ने पूर्वकाल में इतनी उच्च श्रेणी का नैतिक तेज प्रकट किया, तब हममें कुछ-न-कुछ उनके सद्गुणों का प्रभाव क्यों न पड़ेगा? मनुष्य का हृदय कोई बिलकुल पत्थर के समान कठोर पदार्थ नहीं है; किन्तु वह एक संस्कारशील वस्तु है।

नीति की दृष्टि से, इतिहास की उपयोगिता के विषय में, महाराष्ट्र के प्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है। वे कहते हैं—"यद्यपि इतिहास में सदैव यही नहीं पाया जाता कि सज्जनों की जय और दुर्जनों की पराजय ही होती रही हो, फिर भी सम्पूर्णतया परिणाम ऐसा ही कुछ दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त यह भी मालूम होता है कि, यद्यपि यह बात नहीं है कि भलमनसाहत से चलने पर सदैव अच्छा ही परिणाम होता हो, फिर भी दुष्टता करने से तो अवश्य ही अच्छा परिणाम नहीं देखा जाता है। यह बात अवश्य है कि मनुष्य का यदि किसी प्रकार हित हो सकता है, तो वह भलमनसाहत के बर्ताव से ही हो सकता है, कुमार्ग से तो कदापि हो ही नहीं सकता। सच तो यह है कि महापुरुष, जिनका बड़े-बड़े अवसरों पर भी धैर्यबल अटल रहता है, विपत्ति में भी जो सुख पाते हैं, वह दुष्ट और कुत्सित मनवाले लोगों को बड़े भारी भाग्यशालीपन में भी प्राप्त नहीं होता। मतलब यह है कि चित्त पर

जब यह बात भली भाँति बैठ जाती है कि संसाररूपी महानाटक में आज तक कौन-कौन से पात्र अपना-अपना अभिनय समाप्त करके निकल गये, तब चतुर मनुष्य सहज ही यह बात जान लेता है कि भला मार्ग कौन सा है और बुरा मार्ग कौन सा है। इसके सिवाय उसको यह भी मालूम होने लगता है कि सच्चा सुख, सच्चा समाधान, सच्चा सन्तोष, सच्ची प्रतिष्ठा किसमें है। हज़ारों मनुष्यों का अनुभव थोड़े में ही मानो उसे प्राप्त हो जाता है, जिससे उनकी दृष्टि व्यापक हो जाती है; और वह यदि वैसी समझ और दृढ़ निश्चय का पुरुष होता है, तो बहुत जल्द किसी न किसी का आदर्श ग्रहण कर लेता है; और जिस भाँति खलासी लोग ध्रुव तारा पर से नौका का नियमन करते हैं, उसी भाँति वह उस अपने चुने हुए आदर्श के चरित्र पर बराबर नज़र रखकर, तदनुसार अपने जीवन को आगे चलाता है। इस प्रकार इतिहास से सदुपदेश प्राप्त होता है; और इसी लिए एक बड़े ग्रन्थकार ने यथार्थ ही कहा है कि, "इतिहास एक ऐसा पाठ है कि जो प्रत्यक्ष उदाहरणों के साथ पढ़ाया जाता है।"

नीति विषयक काव्य, नाटक और उपन्यासों के परिशीलन से भी नीति शिक्षा में बहुत सहायता मिलती है। उत्तम कवि और उपन्यास-रचयिता अपने प्रतिभासम्पन्न बुद्धि वैभव के द्वारा नीतिमत्ता का रहस्य और महत्व बहुत उत्तम रीति से समझाकर हृदय की वृत्तियों को तल्लीन कर देते हैं। सात्विक गुणों की प्रशंसा और दुर्गुणों के धिक्कार का चित्र कवि और उपन्यासकार बहुत ही उत्तम रीति से अङ्कित करते हैं; और अपनी प्रतिभासम्पन्न बुद्धि का पूर्ण उपयोग करके उस चित्र की रमणीयता और सौन्दर्य्य बढ़ाते हैं, इससे

हृदय पर बहुत उत्तम संस्कार पड़ता है; और उसके विकास होने में बहुत सहायता मिलती है। काव्य के एक दो उदाहरणों से उपर्युक्त बात का .खुलासा हो जायगा। "उत्तर-रामचरित" में भवभूति कवि कहते हैं :—

> अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने भूतनाथः शरण्यो।
> मामन्विष्यन्निह बृषलकं योजनानां शतानि॥
>
> क्रान्त्वा प्राप्तः स इह तपसां संप्रसादोऽन्यथाचेत्।
> क्वायोध्यायाः पुनरुपगमो दण्डकायां वने वः॥

"सब भूतों के नाथ और रक्षणकर्त्ता, जिनकी खोज सारा संसार कर रहा है, वही प्रभु रामचन्द्र सैकड़ों योजन की यात्रा करके, मुझ शूद्र की खोज करते हुए, इस दण्डकारण्य में आ पहुँचे हैं, यह मेरे तप का प्रभाव है; नहीं तो अयोध्या छोड़कर हमारे दण्डकारण्य में कैसे आते?"

इस श्लोक में कवि ने भक्तिरस का कितना सुन्दर वर्णन किया है! योग्य शब्दों की योजना करके कवि ने अपनी प्रतिभा से भक्तिरस का परिपोष बहुत ही उत्तम किया है, प्रभु रामचन्द्र के विषय में शूद्रक का भक्तिभाव कितनी उच्च श्रेणी का, अकृत्रिम, प्रेमपूर्ण और श्रेष्ठ तथा उदात्तस्वरूप का दिखलाया है! नदी के चढ़ते हुए पानी की भाँति शूद्रक के भक्तिरस में मानो बाढ़ सी आगई है। ऐसे प्रतिभासम्पन्न और उत्कृष्ट भक्तिरस-प्रचुर काव्य से हृदय भक्तिरस से पूर्ण होकर उन्नत क्यों न होगा?

कविकुल-गुरु कालिदास अपने शाकुन्तल नाटक में कहते हैं :—

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः,
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवं विधैव।
अनुभवात हि मुर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णाम्।
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥

"अपने निज के सुख की कुछ भी परवा न करते हुए, हे राजा, तू लोक-कल्याणार्थ कष्ट सह रहा है; अथवा तेरी यह वृत्ति वृक्ष की भाँति सदैव की है! क्योंकि वृक्ष कठोर धूप का ताप अपने सिर पर लेते हैं; और आश्रय में आये हुए लोगों का ताप अपनी छाया से शमन करते हैं!"

उपर्युक्त श्लोक में कवि ने राजा दुष्यन्त का वर्णन किया है। भावार्थ यह है कि अपने सुख की परवा न करते हुए प्रजा के कल्याण के लिए रातदिन उद्योग करते रहना राजा का धर्म है। वृक्ष की यथोचित उपमा देकर राजधर्म का रहस्य कवि ने उत्तम रीति से बतलाया है। काव्यरस और तत्वज्ञान का मेल कैसा उत्तम बना है! ऐसी कविता से यदि हृदय पर उत्कृष्ट संस्कार पड़ें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अस्तु। इस प्रकार की कविता के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। सारांश यही है कि विद्यार्थियों के हृदय को विकसित करने वाले काव्य के मनोरंजक वर्णनों से हृदय पर उत्तम प्रभाव पड़ता है; और वह उन्नत होता जाता है।

जैसा कि ऊपर बतलाया, उत्तम काव्य, नाटक और उपन्यासों के द्वारा विद्यार्थियों की हृदय की वृत्तियों का विकास होने में बहुत सहायता मिलती है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु कितने ही उपन्यास और नाटकों में यह बात नहीं पाई जाती। जिन नाटक और उपन्यासों में उच्च मनोवृत्तियों का चित्र

उत्तम रीति से अंकित किया गया है, वे नाटक और उपन्यास यदि विद्यार्थियों को पढ़ाये जायँगे, तो उनके चरित्र पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा; परन्तु ऐसे बीभत्स और शृङ्गारिक नाटक और उपन्यास यदि उनके हाथ में पड़ेंगे कि जिनमें नीच मनोंवृत्तियों का ही वर्णन हुआ है, तो उनके चरित्र पर अवश्य ही बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। ऐसी घृणित पुस्तकें पढ़ने से मानवी प्रकृति की तामसवृत्तियों का नाश तो होगा ही नहीं; किन्तु और उनकी वृद्धि होगी, अतएव जिनमें उत्तम नैतिक उपदेश दिया गया है, वही ग्रन्थ विद्यार्थियों को पढ़ाना चाहिए। नीति की दृष्टि से जो ग्रन्थ हानिकारक हों, उनको पढ़ने की अपेक्षा बिलकुल ही न पढ़ना अच्छा। कुरुचि की शिक्षा देकर विद्यार्थियों का चरित्र और नीति बिगाड़ने की अपेक्षा उनको बिलकुल निरक्षर और लंठ ही बना रखना अच्छा है!

घर की सीमा से निकलकर लड़का जब कुछ समझदार और प्रौढ़ हो जाता है, तब वह अध्यापक के अधिकार में जाता है और लड़के की बुद्धि का उत्तम विकास करके उसके चरित्र और नीति को उत्तम बनाने का पवित्र कार्य उसी अध्यापक के ऊपर आ जाता है। ऐसी दशा में अध्यापन के समान पवित्र कार्य और क्या हो सकता है! अध्यापन की इस पवित्रता को ही ध्यान में रखकर, अध्यापक के विषय में पूज्यभाव रखने का वैदिक उपदेश किया गया है। कहा है:—

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।

अर्थात् "माता को ईश्वर के तुल्य समझो, पिता को ईश्वर के समान समझो; और आचार्य में भी ईश्वर का भाव रक्खो।"

अस्तु। ऐसी दशा में अध्यापकगण यदि अध्ययन-कार्य को पवित्र समझकर, और विद्यार्थियों के इस उच्च भाव को जानकर, अपना कर्त्तव्य बजाने लगें, तो समाज और राष्ट्र का अनुपम कल्याण हो सकता है।

इस शिक्षा के प्रकरण में यदि शिक्षा-प्रणाली का भी कुछ विवेचन किया जाय, तो अप्रासंगिक न होगा। नीति के साधारण सिद्धान्त और उसके उपदेश अध्यापक को लड़कों के मन पर भली भाँति अंकित कर देने चाहिए। सद्वृत्तियों को जागृत करनेवाले अनेक प्रसंग इतिहास, काव्य और उपन्यासों में होते हैं, अतएव इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली से काम लेना चाहिए कि उन प्रसंगों का जैसा का तैसा चित्र विद्यार्थियों के मन पर खचित हो जावे; और उनका रहस्य भली भाँति उनके ध्यान में आ जावे। मनोरंजक और उपदेशप्रद प्रसंगों को इस प्रकार विद्यार्थियों को समझाना चाहिये कि जिससे उनके हृदय की वृत्तियों का विकास हो, और उन प्रसंगों से विद्यार्थीगण अपने जीवन में पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। शिक्षा के विषय में नीरसता की प्रणाली से लाभ नहीं होता। लड़कों की हार्दिक वृत्तियों को शिक्षक अपनी मधुर और उपदेशात्मक वाणी से जब तक जागृत न करेगा, तब तक उन वृत्तियों का विकास किस प्रकार हो सकता है? शिक्षक को उचित है कि विद्यार्थियों की हार्दिक वृत्तियों को उन्नत करने-वाले मनोरंजक प्रसंगों को समझाते समय, प्रसंगों के महत्व के अनुसार अपने हृदय की भी वृत्ति रखकर, विद्यार्थियों के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करे। सच पूछिये तो विद्यार्थियों के हृदय में सद्वृत्तियों का मधुर रस उत्पन्न होना चाहिये; उनका हृदय जब मधुर रस से आर्द्र हो जायगा,

तभी समझना चाहिये कि उनको सच्ची नीति-शिक्षा मिली। हृदय यदि उनका पत्थर के समान कठोर और नीरस बना रहा, और उनमें सद्वृत्तियों की लहर उत्पन्न नहीं हुई तो वह शिक्षा व्यर्थ जायगी।

शिक्षक को उचित है कि लड़कों को जब कोई विषय वह समझावे तब उनके स्वाभाविक दोषों की ओर भी ध्यान रक्खे। कुछ विद्यार्थियों को ऐसी आदत होती है कि किसी विषय को भी वे पूर्ण रीति से नहीं समझते और आगे बढ़ने की इच्छा रखते हैं। उनके मन में इतनी स्थिरता नहीं होती कि वे किसी विषय को भी भली भाँति समझ लें। जिस प्रकार अधूरे पके हुए भोजन के सेवन से शरीर को लाभ नहीं होता, इसी भाँति अधूरे समझे हुए विषय से बुद्धि का विकास भी नहीं होता। शिक्षक को चाहिये कि विद्यार्थियों को अचूक विचार करने का अभ्यास करावे और उनकी ईश्वरनिर्मित विवेचना-शक्ति को पूर्णरूप से विकसित करने का प्रयत्न करे। विद्यार्थियों की बुद्धि में यदि कहीं जल्दबाज़ी, भूल, असम्बद्धता, बेसमझी, निराधार अनुमान करने की आदत, इत्यादि दोष दिखलाई दें, तो इनको अच्छी तरह जाँच कर निकाल डालने की कोशिश करनी चाहिये। ये दोष धीरे-धीरे निकाल डालने का यदि प्रयत्न न किया जायगा, तो बुद्धि का विकास न होगा, और बुद्धिमन्दता उत्पन्न हो जायगी तथा आगे के लिए बुद्धि की वृद्धि मारी जायगी। मतलब यह है कि ईश्वरनिर्मित तारतम्य-बुद्धि—विवेचना-शक्ति—का यथोचित विकास करके विद्यार्थियों को ऐसा अभ्यास कराना चाहिये कि जिससे वे किसी विषय का भी अचूक, व्यवस्थित और साधार विवेचन कर सकें, और उस विषय

का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकें। बस, यही बुद्धि-विषयक शिक्षा है। बुद्धि-विषयक शिक्षा का मनुष्य के चरित्र और उसकी नीति पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है, अतएव नैतिक शिक्षा की दृष्टि से यह बात अत्यन्त महत्व की है कि मनुष्य की विचार प्रणाली विशुद्ध हो, और वह किसी विषय का भी अचूक विचार कर सके।

मनुष्य चाहे विद्वान् बन जावे, उसकी बुद्धि विकसित हो जावे, उसकी विचारशैली विशुद्ध और अचूक हो जावे, बुरे-भले की पहचान करने की बौद्धिक शक्ति उसे चाहे प्राप्त हो जावे, नीति सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान होकर उनका रहस्य चाहे ठीक-ठीक उसकी समझ में आ जावे, परन्तु फिर भी, इतने से ही, उसकी नीति-शिक्षा की आवश्यकता कुछ भी कम नहीं होती। प्रसिद्ध अँगरेज़ ग्रन्थकार डा० जानसन ने एक जगह कहा है :—

"Men speak like angels and act like man."

अर्थात् "मनुष्य देवताओं की भाँति बोलते हैं, परन्तु आचरण मनुष्य के समान ही करते हैं।" अवश्य ही हम बातें तो बड़ी-बड़ी किया करते हैं, परन्तु क्या वैसा ही अमल भी हमसे सदैव होता है ? समझदार और चतुर मनुष्य, जिसकी बुद्धि भी प्रौढ़ हो जाती है, और विद्वानों में जिसकी गणना भी होने लगती है, उसका प्रत्यक्ष आचरण क्या वास्तव में वैसा ही होता है जैसा कि होना चाहिये ? यही नहीं, बल्कि ऐसे मनुष्यों की संसार में कमी नहीं है कि जिनका आचरण उनकी विद्वता के लिए कभी शोभा नहीं देता। इसका कारण क्या है? सच तो यह है कि बुद्धि के

विकास के साथ ही साथ यह नहीं कि, हृदय का भी विकास उसके अनुसार हो ही जाता हो। यह नहीं कहा जा सकता कि केवल बुद्धि-विषयक शिक्षा से हृदय की वृत्तियों का विकास होकर वे उन्नत हो ही जाती हैं। स्थूल दृष्टि से देखते हुए कहना पड़ता है कि बुद्धि और हृदय, ये मनुष्य में दो स्वतंत्र, अलग-अलग, शक्तियाँ हैं। निस्सन्देह इन दोनों का परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्ध अवश्य है; फिर भी इन दोनों शक्तियों का विकास स्वतंत्र रीति से ही होना चाहिये। मनुष्य की नीति उच्च और उत्तम होने के लिए यह आवश्यक है कि उसके हृदय पर उत्तम संस्कार पड़ें; और वह क्रमशः उन्नतावस्था को प्राप्त होता जाय। नीति-शिक्षा के द्वारा हृदय की वृतियाँ आर्द्र होनी चाहिये; उनमें कोमलता और सरलता आनी चाहिये। वह शक्ति भी, जो कि सब बुरे-भले कार्यों की कारण है, हृदय की वृत्तियों में ही होती है, और हृदय की ये वृत्तियाँ ज्यों-ज्यों विशुद्ध और उन्नत होती जावेंगी, त्यों त्यों सदाचार और नीति की वृद्धि होती जावेगी और मनुष्य उच्चपदवी को प्राप्त होता जावेगा।

चौथा प्रकरण

—:o:—

सदाचार और व्यवहार

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये ।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय विघ्नन्ति ये ।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥

—भर्तृहरि ।

बालपन से शारीरिक शिक्षा उत्तम प्रकार की मिली, जिससे शरीर सुदृढ़ और जोशीला बन गया; शरीर की सुदृढ़ता के कारण मन उत्साह-पूर्ण, प्रबल और कार्यक्षम बन गया; शिक्षा के द्वारा बुद्धि की मन्दता दूर हो गई; और वह तीव्र तथा प्रखर बन गई; विचार में स्थिरता, सरलता और विशुद्धता आ गई; नीति-शिक्षा के द्वारा हृदय पर उच्च और श्रेष्ठ संस्कार पड़े, जिससे हृदय की वृत्तियों का विकास होने लगा। यह सब हुआ; परन्तु फिर भी इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि अति उच्च और श्रेष्ट नैतिक वायुमंडल में यथेच्छ संचार करने की योग्यता मनुष्य को प्राप्त हो गई। अगला मार्ग उसे अभी बहुत चलना है; और सामग्री उसके पास इतनी है कि बालपन में घर में उनके मन पर उच्च संस्कार डाले गये हैं, और प्रौढ़ होने पर शारीरिक और

मानसिक शिक्षा उसे उत्तम अवश्य मिली है। सच पूछिये तो नीतिपंथ की भिन्न मंज़िले हैं; उनको धैर्य और दृढ़ता के साथ पार करना है; और फिर अन्त की मंजिल—मंज़िले मक़सूद—तक पहुँचकर मानवी जीवन की श्रेष्ठ सफलता प्राप्त करनी है। यह काम वास्तव में बहुत कठिन है। फिर भी इन मंज़िलों में से प्रत्येक मंज़िल की यात्रा यदि व्यवस्थित रीति से और धैर्य के साथ की जायगी, तो अगला मार्ग अवश्य ही सरल हो जायगा। बालपन में घर में लड़के के मन पर जब उत्तम संस्कार पड़ेंगे, तभी आगे चलकर प्रौढ़ावस्था में शिक्षा के द्वारा हृदय की वृत्तियों का विकास होगा। बालपन के उत्तम संस्कार और प्रौढ़ावस्था की उत्तम शारीरिक और मानसिक शिक्षा की साधन सामग्री लेकर मनुष्य अब विस्तृत संसार में प्रवेश करेगा। पक्षी अपने बच्चों को पहले अपनी चोंच से दाना चुगाता है; फिर जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं, और उनके पंख फूट आते हैं, तब वह उनको अपने साथ उड़ने के लिए ले जाता है, और जब उनको अच्छी तरह उड़ना आने लगता है, तब वे हवा में आनन्द-पूर्वक, जहाँ चाहते हैं, संचार करने लगते हैं। बस, इसी भाँति बालपन और प्रौढ़पन की संस्कार-सामग्री साथ लेकर मनुष्य विस्तृत संसार में संचार करने के योग्य बन जाता है। नैतिक उन्नति की सर्वोच्च सीढ़ी पर पहुँचने के लिए बाल्यावस्था और प्रौढ़ावस्था की दो सीढ़ियाँ जब व्यवस्थित रूप से पार कर लेते हैं, तब तीसरी सीढ़ी व्यावहरिक जीवन की आती है। बालपन में बालक के मन पर आस पास की परिस्थिति का प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रौढ़ावस्था में, जब कि विचार-जागृति हो जाती है, शिक्षा के द्वारा उसका मन्द

सुविचारों और श्रेष्ठ संस्कारों से सम्पन्न करना पड़ता है, और आगे जब मनुष्य सांसारिक व्यवहारों में प्रवेश करता है, तब अपने कर्तव्य को बजाकर उसको अपनी उन्नति करनी होती है। मतलब यह है कि बाल्यावस्था में संस्कार, प्रौढ़ावस्था में शिक्षा और व्यावहारिक अवस्था में कर्तव्य के द्वारा मनुष्य के हृदय की वृत्तियों का विकास होता रहता है। मानवी जीवन की इन तीन अवस्थाओं में हार्दिक वृत्तियों का विकास करनेवाले मानो ये तीन साधन हैं। यह नहीं कि प्रौढ़ावस्था में मनुष्य बिलकुल कर्त्तव्यशून्य रहता हो; किन्तु इस अवस्था में उसका कार्य प्राय: बौद्धिक और नैतिक शिक्षा प्राप्त करने का ही रहता है। इसी भांति यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यावहारिक अवस्था में मनुष्य को कोई शिक्षा नहीं मिलती; मिलती है; परन्तु इस अवस्था में मुख्यतया उसका कार्य सांसारिक कर्तव्य करके अपनी उन्नति करने का होता है।

अपना कर्तव्य उत्तम रीति से बजाना भी हृदय के विकास के लिये एक बहुत आवश्यक बात है। कमल जिस प्रकार सूर्य की किरणों से खिलता है, अपना सांसारिक व्यवहार उत्तम रीति से चलाने से उसी प्रकार हृदय की वृत्तियां भी विकसित और प्रफुल्लित होती हैं। कर्त्तव्य व्यावहारिक अवस्था का एक बहुत बड़ा रहस्य है। इसी अवस्था में मनुष्य को सत्कार्य करने का अच्छा अवसर मिलता है; इसलिए यह स्पष्ट है कि मनुष्य की व्यावहारिक अवस्था उसके हृदय को उन्नत बनाने का एक मुख्य साधन है। सांसारिक व्यवहार में पड़ने पर भिन्न व्यक्तियों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है; और इसलिए उनके विषय में अपना

कर्तव्य उत्तम प्रकार से पूरा करना उसके लिए एक अत्यन्त आवश्यक बात हो जाती है। मनुष्य में जब अपने कर्तव्य के विषय में निष्ठा उत्पन्न हो जाती है ; और वह अपना कर्तव्य समुचित रूप से करने लगता है, तब उसके हृदय की वृत्तियाँ भी उन्नत होने लगती हैं। मानवी हृदय में परमेश्वर-निर्मित सद्‌गुणों का बीज रहता है, यह बीज सांसारिक कर्तव्य के साधन से अंकुरित होकर बढ़ने लगता है ; और यदि उचित सांसारिक कर्तव्य का जल हम उसमें बराबर डालते रहते हैं, तो धीरे-धीरे वही बीज एक बहुत ही उत्तम वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है। परन्तु यह कर्त्तव्य का जल यदि उसे नहीं मिलता, तो वह बीज हृदय का हृदय में ही जल-भुनकर नष्ट हो जाता है। किसी मनुष्य को यदि आप अनेक वर्षों तक अँधेरी कोठरी में बन्द कर रखिये, तो उसकी आँखों का स्वाभाविक तेज नष्ट हो जायगा। सच तो यह है कि आँखों का यह स्वाभाविक तेज सूर्य प्रकाश के सतत-सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। इसी भाँति मानवी हृदय के सद्‌गुणों का तेज भी सांसारिक कर्तव्य से ही बढ़ता रहता है। संसार के सब व्यावहारिक कर्तव्य छोड़कर मनुष्य यदि किसी निष्कर्मशील की भाँति रहने लगे, तो जन्मभर अँधेरी कोठरी में बँधे हुए मनुष्य की भाँति, उसके हृदय के सद्‌गुणों का भी विकास कदापि नहीं होगा। जिस प्रकार शरीर को सुदृढ़ बनाने के लिए व्यायाम की अत्यन्त आवश्यकता है, बुद्धि की प्रखरता और उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए जिस प्रकार बौद्धिक शिक्षा की आवश्यकता है, उसी भाँति हृदय की सद्वृत्तियों का विकास करने के लिए व्यावहारिक कर्तव्य का भली भाँति पालन करना एक उत्तम साधन है। संसार छोड़कर यदि

कोई मनुष्य बिलकुल निर्जन वन में जाकर रहे, तो उसका हृदय नीरस होता जायगा ; और उसकी सद्वृत्तियों का लोप हो जायगा। मानवी शरीर की हस्त पादादि सब इन्द्रियाँ जब नित्य अपना-अपना कर्तव्य कर रही हैं, तभी उनकी शक्ति बनी हुई है। इसी भाँति संसार के सत्कार्यों से जब हम अपने हृदय पर उत्तम संस्कार डालते हैं, तभी हमारे हृदय की सद्वृत्तियाँ स्थिर रहतीं हैं—न सिर्फ स्थिर ही रहती हैं, किन्तु धीरे-धीरे वे उन्नत भी होती जाती हैं।

जो लोग सर्वसंग-परित्याग करके, बनवासी बनकर, ईश्वरभक्ति करनेकी इच्छा रखते हैं, वे प्रायः सुजान नहीं होते। सोचने की बात है, जो लोग सदाचार सम्बन्धी सांसारिक कर्तव्यों से घबड़ाकर दूर भागना चाहते हैं, उनके हृदय में प्रेम और भक्ति का भाव कहाँ से उत्पन्न होगा? व्यावहारिक कर्तव्यों से जो मनुष्य ऊब गया है; उसके मन में उद्वेग और खिन्नता को छोड़कर के अन्य भाव कहाँ से आवेंगे? छोटी सी बावड़ी में ही जो मनुष्य भली भाँति नहीं तैर सकता, वह विस्तृत समुद्र में कैसे तैर सकता है? अवश्य ही घबड़ाकर बीच ही में गोता खाकर डूब जाने के सिवाय उसकी और क्या गति हो सकती है? सांसारिक कर्तव्यों से उद्विग्न हो जाने के कारण सार्वत्रिक प्रेम का झरना जिसके हृदय में उत्पन्न नहीं हुआ; बल्कि इसके विरुद्ध कर्तव्य-विषयक उद्वेग और खिन्नता से जिसका हृदय व्याप्त है, उस मनुष्य का नीरस और शुष्क हृदय ईश्वरभक्ति से हीं द्रवित कैसे होगा—ईश्वरभक्ति के लिए उसमें स्थान ही कहाँ से आवेगा? संसार की सेवा करके—जनतारूप जनार्दन की भक्ति करके—जसने अपने हृदय को आर्द्र नहीं बना लिया है, उसके हृदय में

ईश्वरभक्ति का अंकुर कैसे उठेगा ? ऐसी स्थिति में परमेश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले मनुष्य की गति विस्तृत समुद्र में उड़कर पार पाने की इच्छा रखनेवाले कौवे के समान ही होगी ! बीच ही में शक्ति-हीन बनकर नीचे गिरकर डूब जाने की नौबत आवेगी । व्यावहारिक कर्तव्यों को करते हुए ही वह श्रेष्ठ श्रेणी का प्रेमश्रोत हृदय में उत्पन्न करना होता है जिसके द्वारा हम परमेश्वर को प्रसन्न कर सकते हैं। शायद कोई-कोई पुरुष ऐसे भी होंगे कि जो एकदम वनवासी बन कर ईश्वर को पा सकते होंगे ; परन्तु उनको अपवादरूप समझना चाहिये, उनके कारण उपर्युक्त सर्वसाधारण नियम में बाधा नहीं आ सकती।

प्रसिद्ध श्रीस्वामी विवेकानन्दजी ने एक दृष्टांत दिया है। एक हठयोगी सर्वसंग-परित्याग करके योगसाधन द्वारा परमेश्वर-प्राप्ति करने के लिए जंगल में जाकर रहने लगा। उसका यह नित्यक्रम था कि प्रति दिन सुबह उठकर स्नान, संध्या इत्यादि नित्य कर्म करके एक वृक्ष के नीचे एक चबूतरे पर बैठकर कुछ देर योग-साधन करता, और फिर आस-पास के गाँवों में जाकर भिक्षा माँगकर भोजन करता। एक दिन नित्यनियमानुसार स्नान-संध्या से निपटकर योगसाधन करने के लिए वह अपने स्थान पर बैठा था कि इतने में उसके ऊपर वृक्ष पर बैठी हुई चिड़ियों ने बहुत शोर मचाया, जिससे उसके साधन में विघ्न पड़ने लगा। इस कारण क्रोध से संतप्त होकर ज्यों ही उसने ऊपर चिड़ियों की ओर देखा, त्यों ही उसके तप के प्रभाव से वे चिड़ियाँ जल भुनकर नीचे गिर पड़ीं ! इसके बाद वह अपना साधन करके फिर रोज़ की तरह किसी गाँव के एक घर में भिक्षा

मांगने गया। वह बहुत देर तक सवाल करता रहा, पर सुनवाई न हुई। इस पर उसे बड़ा क्रोध आया। इतने में एक स्त्री भीतर से भिक्षा लेकर आई, और उस योगी को क्रुद्ध देखकर कहने लगी कि बाबा, मैं उस पेड़ की चिड़ियों में से नहीं हूँ जो आपके क्रोध से जलकर भस्म हो जाऊंगी। मैं आपके इस क्रोध की कुछ भी परवा नहीं करती! उसका यह गूढ़ कथन सुनकर योगी को बड़ा अचम्भा हुआ, और उसने उस स्त्री को महाज्ञानी समझा, और उसे साष्टांग नमस्कार करके पूछा कि देवी, तुमको उन जंगल की चिड़ियों का हाल कैसे मालूम हुआ? स्त्री ने उत्तर दिया, कि, "बाबा, मैं आपके समान कोई तपस्वी इत्यादि नहीं हूँ, मैं अपने रोज़ के व्यावहारिक कर्तव्य हृदयपूर्वक करती हूँ, और सास, श्वसुर, भर्त्ता इत्यादि बड़ों की सेवा श्रद्धा के साथ करती हूँ। इस समय भी मैं अपने पति को स्नान करवा रही थी, इसी से भिक्षा में विलम्ब हुआ। आप क्षमा करें, मैं अपने सांसारिक कर्तव्य सच्चाई और भक्ति से करती हूँ, और इसी कारण मुझे गुप्त और प्रकट सब बातों के जानने की शक्ति ईश्वर से प्राप्त होगई है!"

इस विषय में शिवाजी महराज को सम्बोधन करके साधुवर्य तुकारामजी ने जो उपदेश किया है वह भी बहुत ही सरस है। शिवाजी महराज के एक मराठी चरित्र में इस विषय में इस प्रकार लिखा हुआ है, "एक बार शिवाजी महराज तुकारामजी का हरिकीर्तन श्रवण करने के लिए अपने साथियों के साथ गये। तुकाराम महाराज ने अपने कीर्तन में वैराग्यवृत्ति का निरूपण करके ईश्वर की भक्ति करने का उपदेश श्रोता लोगों को दिया। सांसारिक वैभव

और ऐश्वर्य की अस्थिरता, विषय-सुख की हानि और जीवन की क्षणभंगुरता का विवेचन सुनकर शिवाजी महाराज की चित्तवृत्ति में एक विचित्र प्रकार का परिवर्तन हो गया। वे चूंकि स्वभाव से ही भावुक और सदाचारी थे, अतएव तुकारामजी के उपदेश का उनके मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा, और उनके सरस और सरल हृदय को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि तुकारामजी के उपदेश के अनुसार चलने से अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होगी। कीर्तन समाप्त होने पर छत्रपति शिवाजी तुकाराम महाराज से विदा होकर अपने स्थान को चले गये, और फिर थोड़ी देर बाद जंगल में एकान्त में जाकर तुकारामजी के उपदेश का मनन करने लगे। उनकी यह दशा देखकर उनके साथ के कुछ लोग उनके पास गये, और कहा कि इस अवस्था में आपको इस प्रकार की विरक्ति होना ठीक नहीं है। किन्तु महाराज ने उनके कथन पर कुछ भी ध्यान न दिया। तब तो उन लोगों को बड़ी चिन्ता हुई, और उन्होंने इसका सारा वृत्तान्त माता जिजाबाई को लिखा भेजा। जिजाबाई बहुत शीघ्र पालकी पर बैठकर वहाँ आईं, और पहले सीधी तुकाराम महाराज के पास गईं और विनती करके उपर्युक्त सब वृत्तान्त उनसे बतलाया। उन्होंने कहा, "स्वामी जी, मेरा पुत्र शिवाजी आपका हरिकीर्तन सुनकर विरक्त हो गया है, और घर को छोड़कर जंगल में जा बैठा है। अब उसके प्राप्त किये हुए राज्य को कौन सम्हालेगा? वह फिर यवनों के हाथ में चला जायगा, और बेचारी हिन्दू-प्रजा को फिर विधर्मियों से तंग होना पड़ेगा। अतएव आप इसकी ओर ध्यान देवें, और उसको राज्य-प्रबन्ध का उद्योग न छोड़ने के विषय में

उपदेश दें !" उनका यह नम्रतापूर्ण निवेदन सुनकर तुकारामजी ने आश्वासन देकर उनसे कहा, "शिवाजी महाराज आज रात को जब फिर कीर्तन सुनने आवेंगे, तब हम उनको समझाकर फिर राज्य की ओर उनका मन आकर्षित करने का प्रयत्न करेंगे!"

इस प्रकार प्रबन्ध करके उस रात को स्वयं जिजाबाई तुकारामजी का कीर्तन सुनने आईं। महाराज शिवाजी भी नित्यनियमानुसार आये। आज के कीर्तन में तुकारामजी ने कर्मकांड का प्रयोजन बतलाकर यह विवेचन किया कि प्रत्येक को अपने-अपने धर्म और कर्तव्य के अनुसार चलना चाहिए, इसी में कल्याण है। ईश्वर भक्ति के लिए घर छोड़कर जंगल में चले जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। लोगों के बीच में रहकर अपना कर्तव्य उत्तम रीति से करते हुए अपने देश-भाइयों के सुख की यथाशक्ति वृद्धि करने में हो रात-दिन प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसी में सच्चा पुरुषार्थ है। हमारे आसपास के लोगों की सब प्रकार दुर्दशा हो रही है; और हम उसे अपनी आंखों से देख रहे हैं— ऐसी दीन दशा में लोगों को छोड़कर, केवल अपनी मुक्ति का उद्देश्य सामने रखकर, गिरिगुहा में जा बैठना न सिर्फ स्वार्थ का ही काम है, किन्तु इसमें एक प्रकार की कायरता भी दिखलाई देती है। सच तो यह है कि संसार का उपकार करते हुए यदि कोई गृहस्थाश्रम में रहे, तो उसके समान और कोई परमार्थी नहीं हो सकता। गृहस्थी से घबड़ाकर, बालबच्चों का त्याग करके, जो लोग भस्म रमाकर साधू-संन्यासी बन जाते हैं, उनसे इन्द्रियों का दमन कदापि नहीं हो सकता, और वे मोह के गर्त में फिर से गिर

कर लोक-निन्दा के पात्र होते हैं। उनका कहीं आदर नहीं होता और मोक्ष से तो वे सैकड़ों कोस दूर हो जाते हैं। इस लिए गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यासी बनकर इधर उधर घूमने की अपेक्षा गृहस्थी में रहकर ही सदाचार और नीति से चलना और यथाशक्ति परोपकार और ईश्वर-भक्ति करते रहना विशेष कल्याणकारक है। इस प्रकार साधारण गृहस्थाश्रम का उपदेश करके फिर तुकाराम महाराज ने राजा के कर्तव्य के विषय में थोड़ा सा विवेचन किया, जिसमें उन्होंने बतलाया कि राजा यदि सदाचारी और प्रजापालन में दक्ष होता है, तो उसके हाथ से लोकोपकार बहुत अच्छा हो सकता है। इसके बाद उन्होंने अम्बरीष, जनक, युधिष्ठिर इत्यादि का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि ईश्वरभक्ति और सदाचार प्राप्त करने के लिए राजा को राज्य छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह दृष्टान्तपूर्ण प्रभावशाली उपदेश सुनकर महाराज के मन में यह पूरा निश्चय हो गया कि तुकारामजी का उपदेश यह बिलकुल सत्य है; और इसके अनुसार चलने से ही वास्तविक कल्याण हो सकता है। इसके बाद तुकाराम महाराज तथा माता जिजाबाई को साष्टांग प्रणाम करके वे अपने स्थान को चले गये। और स्वराज्य प्राप्त करने का प्रशंसनीय उद्योग वे फिर बराबर करते रहे!"

मतलब यह है कि सांसारिक कर्तव्य ही हृदय की वृत्तियों को उच्च और उन्नत बनाने का उत्तम साधन है।

८

इस सांसारिक व्यवहार का प्रारम्भ पहले पहल घर से ही हुआ करता है। कौटुम्बिक व्यवहार जब हम उचित रीति से चलाने लगते हैं, तब हमारे हृदय की प्रेम-वृत्तियों का

विकास होने लगता है। जिसके बालबच्चे, इष्ट-मित्र; बन्धु-बांधव कोई नहीं हैं, अथवा इनके होते हुए भी जिसने इनके साथ अपने उचित कर्तव्य का पालन नहीं किया है, उसका हृदय प्रेमार्द्र कैसे होगा। उसका हृदय अवश्य ही उच्च भावों से हीन, नीरस और प्रेमशून्य होगा। ऐसे हृदय में देश-भक्ति अथवा ईश्वर-भक्ति का भी अंकुर नहीं उठ सकता। किसी आधुनिक कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है, पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं॥

सारांश यह है कि कौटुम्बिक कर्तव्य से ही गृहस्थ मनुष्य के हृदय में पहले पहल प्रेम-वृत्तियों के विकास होने का अवसर मिलता है। प्रेममय व्यवहार से ही प्रेम का विकास होता है, प्रेम से ही प्रेम की वृद्धि होती है।

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, जब पहले कौटुम्बिक प्रेम-मय व्यवहार से हार्दिक वृत्तियों का विकास होता रहता है, तब फिर कुटुम्ब के बाहर विस्तृत संसार में अपना कर्तव्य पालन करके हार्दिक वृत्तियों को विकसित करने का अधिक और विस्तृत अवसर मिलता है। क्योंकि प्रेममय व्यवहार का क्षेत्र ज्यों-ज्यों विस्तृत होता जाता है, त्यों-त्यों प्रेमवृत्तियों का विकास भी अधिकाधिक होता है। इसके बाद फिर अन्त में—

"वसुधैव कुटुम्बकम्"

अर्थात् "सारा संसार ही कुटुम्ब है"—इसकी भावना

रख कर जो सदाचारी पुरुष अपना कर्तव्य करते रहते हैं, उनकी हार्दिक वृत्तियां उच्च और श्रेष्ठ होती जाती हैं। और इस कौटुम्बिक व्यवहार के बाहर मनुष्य जो प्रेम और उपकार का भाव रखकर अपना कर्तव्य करता है, उसी को परोपकार कहते हैं। परोपकार करने की ज्यों ज्यों आदत पड़ती जाती है, त्यों त्यों हार्दिक वृत्तियों का विकास होता जाता है, और अन्त में परोपकार-भावों के कारण स्वार्थभाव का बिलकुल लोप होता जाता है, परोपकार ही मनुष्य का स्वार्थ हो जाता है। इस परोपकाररूपी यज्ञ मे स्वार्थ की आहुति डालकर, स्वार्थ का समूल भस्म करके, जिन महात्मा लोगों ने अजर और अमर कीर्ति प्राप्त की है, उनका इतिहास पढ़ने से ही हार्दिक वृत्तियों का विकास होने लगता है। परोपकार की महिमा बड़ी विचित्र है। ऐसे परोपकार के कार्य करने के लिए संसार के अतिरिक्त और कहां अवसर मिल सकता है? क्या विरक्त होकर जंगल में जाकर रहनेवालों को यह मौक़ा कभी मिल सकता है?

परोपकार भाव से जो महात्मा लोग दूसरे का कल्याण करने में सदैव तत्पर रहते हैं, उन सत्पुरुषों के हृदय की क्षुद्र वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है; और श्रेष्ठ वृत्तियां पूर्णतया विकसित होती हैं। इस प्रकरण के प्रारम्भ में जो श्लोक दिया हुआ है, उसमें सत्पुरुषों का यही लक्षण बतलाया है कि जो परोपकार के लिए अपने स्वार्थ को तिलांजलि दे देते हैं, वही सत्पुरुष हैं। इङ्गलैंड का राजा आल्फ्रेड दि ग्रेट, ग्रीस के प्रसिद्ध्ध महात्मा साक्रेटीस, शार्मण्य देश के प्रसिद्ध्ध धर्म-सुधारक मार्टिन लूथर, भारत के महात्मा गौतम बुद्ध, स्वामी दयानन्द, छत्रपति शिवाजी, अमेरिका के प्रसिद्ध्ध वीर जार्ज

वाशिंगटन, इत्यादि इसी श्रेणी के सत्पुरुष हैं। माता का हृदय जिस प्रकार सदैव अपने पुत्र के कल्याण में लगा रहता है, उसी प्रकार जिस राजा का हृदय प्रजा के सुख और कल्याण में लग रहा था, अपने सुख की परवा न करते हुए प्रजा के सुख के लिए जो राजा सदैव निष्काम प्रयत्न करता रहता था, जिसने अपने देश के उद्धार के लिए अनेक संकट और कष्ट सहकर परकीय डेन्स लोगों को बड़े पराक्रम से निकाल बाहर किया; और बड़े चातुर्य्य और निस्स्वार्थ भाव से राज्य का उत्तम प्रबन्ध कर दिया, उस राजा अल्फ्रेड दि ग्रेट का महत्व जितना भी वर्णन किया जाय, थोड़ा ही है। ऐसी अति उच्च कर्त्तव्यनिष्ठा और व्यवहारदक्षता से यदि हृदय की सद्वृत्तियों का पूर्ण विकास हो, तो इसमें क्या आश्चर्य है? सम्पूर्ण मानव-जाति के पाप-तापों का नाश करने के लिए सबको सन्मार्ग में लगाने के पवित्र उद्देश्य से प्रेरित होकर, जिस पुण्यश्लोक पुरुष ने अपने मा-बाप, स्त्री-पुत्र, इष्ट-मित्र और राज्य का भी मोह छोड़कर, सारे ऐश्वर्य और सुख को लात मारकर, आधी रात के समय सब सुखों से सजे हुए राजमहल को छोड़ दिया; और जिसने अपने सुन्दर और श्रेष्ठ उपदेशों तथा अपने पवित्र आचरण से हज़ारों लोगों को पवित्र करके तथा देशदेशान्तर में अपनी शिक्षा को फैला कर, एक प्रकार से संसार की कायापलट कर दी, उस महात्मा गौतम बुद्ध के हृदय की विशालता का अनुमान आप कीजिए! ऐसे परम पवित्र और प्रेममय कर्तव्य से हार्दिक वृत्तियाँ यदि उन्नत और उच्च बनें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। गोब्राह्मण-प्रतिपालन करने के सद्भाव से प्रेरित होकर, अपना उच्च उद्देश्य सिद्ध करने के लिए, स्व-

राज्य-सम्पादन करने के लिए, जिसने बहुत बड़े-बड़े प्रयत्न किये और सारे जीवन अपने शरीर, सुख और स्वार्थ की कुछ भी परवा न करते हुए जिस पुरुष सिंह ने अपना तन मन धन सारा लोक-कल्याण में लगा दिया; मतलब यह कि, परोपकाररूपी यज्ञ में जिस महात्मा ने अपने प्राणों की आहुति दी, उस वीर सत्पुरुष शिवाजी महाराज के हृदय की उदारता का विचार कीजिए! शुभ कार्यों से हृदय के विशाल, उदार और उच्च बनने के ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

ऊपर जिस प्रकार की विभूतियाँ अपने सदाचार के कारण है उस प्रकार की विभूतियां अपने सदाचार के कारण इतिहास के गगन-पटल में तेजस्वी नक्षत्रों की भाँति चमक रही हैं। निस्सन्देह ये पुरुष और इनके कार्य अलौकिक श्रेणी के होते हैं; तथापि ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों का भी सांसारिक व्यवहारों से ही अपनी चित्तवृत्तियों का विकास करना होता है। सारांश यह है कि, मनुष्य चाहे श्रेष्ठ हो, और चाहे कनिष्ठ हो; प्रत्येक को अपनी-अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार सांसारिक व्यवहार उत्तम रीति से चलाकर ही अपनी आत्मिक और मानसिक उन्नति करनी होती है। सांसारिक व्यवहार न करते हुए नैतिक उन्नति की इच्छा करना मानो मन के मोदक खाना है; अथवा इस प्रकार व्यर्थ है जैसे कोई पैरों के बिना चलने का प्रयत्न करता हो। मतलब यह है कि छोटे-बड़े सभी सांसारिक व्यवहारों का पालन किये बिना नैतिक उन्नति नहीं हो सकती। परमेश्वर ने यह सृष्टि-रचना इसी हेतु से की है कि मनुष्य इसमें समुचित रूप से व्यवहार करके अपनी उन्नति कर लेवे। मनुष्य प्राणी इस विस्तृत संसार को लाभ क्या पहुँचा सकता है! हां, इस संसार के कारण वह लाभ

अवश्य उठा सकता है; और इससे उनकी उन्नति में पूरी मदद मिलती है। स्वामी विवेकानन्दजी ने यथार्थ ही कहा है कि हम इस संसार का सुधार क्या कर सकते हैं? यह कुत्ते की पूंछ की भांति सदैव ऐसा ही टेढ़ा रहा है; और रहेगा। हां, यदि हम चाहें, तो इसमें सदाचार से चलकर अपना सुधार अवश्य कर सकते हैं। लूले, लँगड़े और अंधे, इत्यादि निराश्रित लोगों को थोड़ा-बहुत दान दे देने से, अथवा और इसी प्रकार के कुछ परोपकारी कार्य करने से, संसार की स्वाभाविक स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। हां, इस प्रकार के परोपकार-पूर्ण कार्य करने से मनुष्य के हृदय का विकास अवश्य होता है; और इस तरह उसकी उन्नति होने में संसार से सहायता मिलती है।

हमने ऊपर बतलाया है कि सांसारिक कर्तव्य और व्यवहार भलीभांति पूर्ण करने से मानवी हृदय को प्रेम-वृत्तियों का विकास होता है; और जब इन प्रेम-वृत्तियों का विकास होने लगता है, तब हृदय की क्षुद्र स्वार्थ-प्रवृत्तियां निर्बल होती जाती हैं। मानवी हृदय में जिस प्रकार सद्गुणों का बीज मौजूद है, उसी प्रकार स्वार्थ का बीज भी मौजूद है। हृदय में यदि कहीं स्वार्थवृत्ति बिलकुल न होती, तो मनुष्य देवताओं की श्रेणी में गिना जाता; और सृष्टि की रचना में आज बहुत कुछ अन्तर दिखलाई पड़ता। यह कहने में कुछ अतिशयोक्ति नहीं हो सकती कि संसार के सारे व्यवहार और सारी घटनाएँ स्वार्थमूलक है। महात्मा तुलसीदासजी ने कहा ही है कि :—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती।
स्वारथ लागि करैं सब प्रीती॥

यह स्वार्थ-वृत्ति यदि हृदय से नष्ट हो जाय, तो संसार के सारे व्यवहार और उद्योग एक दम बन्द हो जायँ। स्वार्थ-प्रवृत्ति के कारण ही उद्योग होते हैं; और उद्योगों से स्वार्थ सधता है। यही सृष्टि-व्यवस्था है। इस सृष्टि-रूपी घड़ी के चक्र को अनवरत गति देनेवाली कल केवल एक स्वार्थ-बुद्धि ही है; और यह स्वार्थ-बुद्धि और कुछ नहीं—मनुष्य का अपने निज के ऊपर प्रेम है। यह अपना प्रेम मर्यादित निष्कलंक और शुद्ध होना चाहिये। यही स्वार्थभाव जब अमर्याद रूप से बढ़ने लगता है—शुद्ध और निष्कलंक प्रेम के स्थान में जब दोषयुक्त स्वार्थ बढ़ने लगता है—तभी मनुष्य की नैतिक अवनति का प्रारम्भ हो जाता है। हृदय में शुद्ध प्रेम का अंकुर चाहे पहले स्वार्थरूप से ही क्यों न रहता हो, आगे चलकर यदि उसकी शुद्धता बनी रहती है; और यदि वह धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, तो फिर उसका एक ऐसा बड़ा प्रेमवृक्ष बन जाता है कि जिसकी छाया के आश्रय में सैकड़ों मनुष्यों को सुख और शांति मिलती है। इसी निष्कलंक स्वार्थ-बुद्धि का स्वरूप अन्त में श्रेष्ठ परोपकार भाव में परिणत हो जाता है। इस स्वार्थभाव को परमार्थ या परोपकार-भाव का स्वरूप देने में ही मनुष्य की उन्नति होती है; परन्तु जब इस स्वार्थभाव की जांच हम नहीं कर पाते और उसको अमर्याद रूप से बढ़ने देते हैं, तब नीति और सदाचार का ह्रास होने लगता है। इस निष्कलंक प्रेम की जब वृद्धि होती जाती है तब उच्च प्रेम और परोपकार-भाव का आविर्भाव मनुष्य में होता है. और जब एक वार परोपकार-भाव मनुष्य में आ जाता है, तब स्वार्थ का महत्व और उसकी महिमा जाती रहती है। उस पक्षी को, जो कि विस्तृत आकाश में यथेच्छ संचार

करता रहता है, क्या पिंजड़े में फुदकते हुए कभी सुख हो सकता है? शुद्ध आत्मप्रेम की ज्योति का प्रकाश ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अशुद्ध आत्मभाव या स्वार्थ-स्वरूप का लोप उसी में होता जाता है, और हृदय सार्वत्रिक प्रेम या विश्वबन्धुत्व से व्याप्त होता जाता है। सच है, समुद्र में जाकर जब नदी मिल जाती है, तब नदी का स्वरूप लुप्त हो ही जाता है। जंगल में एक वृक्ष की खोह में पक्षियों की एक जोड़ी और उसके बच्चे रहते थे। एक बार कुछ यात्री उस वृक्ष के आश्रय में आकर ठहर गये। रात को उन प्रवासियों को बहुत जाड़ा मालूम हुआ। यह देखकर उस वृक्ष पर रहनेवाले पक्षी को बहुत दया आई। तुरन्त ही वह घोसले से उड़ता हुआ एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचा, जहां कुछ लोग बैठे हुए आग ताप रहे थे। वहां से वह पक्षी अपनी चोंच में आग की एक चिनगारी उठा लाया, और उन मुसाफ़िरों के पास नीचे डाल दी। मुसाफ़िरों ने आग जलाकर अपने शीत को भगाया, और बड़ा सुख पाया। इसके बाद उस पक्षी को मालूम हुआ कि वे यात्री भूख से बहुत व्याकुल हो रहे हैं। परन्तु आसपास उस पक्षी को ऐसा कोई पदार्थ न देख पड़ा कि जिसके द्वारा वह उन अतिथियों की क्षुधा शान्त कर सकता। अन्त में यह सोचकर कि, देखो, इन मेहमानों की सेवा करने के लिए मेरे पास कोई साधन नहीं है. वह पक्षी अत्यन्त व्याकुल हुआ। परन्तु फिर उसने विचार किया कि यदि मैं स्वयं इस नीचे जलती हुई आग में कूद पड़ूं तो कम से कम एक मुसाफ़िर की क्षुधा कुछ न कुछ अवश्य ही शान्त होगी और मेरा यह नश्वर शरीर परोपकार में लग जायगा। यह बिचार अपनी स्त्री और बच्चों को बतलाकर वह नीचे आग में कूद पड़ा। इसके बाद उसकी

धर्म-पत्नी और बच्चों ने सोचा कि अब हमारा भी जीवन यदि परोपकार में लग जाय, तो बहुत अच्छा। और यह सोचकर वे सब भी उसी के अनुगामी बने ! पाठको, उन पक्षियों से दूसरे का दुःख देखा न गया, और परोपकार के लिए उन्होंने अपने प्राणों की भी आहुति दे दी। धन्य है, उस पक्षी के कुटुम्ब को ! कैसा उज्ज्वल, निष्कलंक और पवित्र प्रेम का उदाहरण है ! कैसा उच्च स्वार्थत्याग है ! दूसरे का दुःख अपना ही दुःख है—ऐसी जिस हृदय की वृत्ति बन गई है, अथवा यों कहिये कि दूसरे के दुःख को देखकर जो हृदय द्रवित हो जाता है, वह हृदय मानो मूर्तिमन्त करुणारस का ही बना हुआ है। परन्तु हृदय की वृत्तियों का ऐसा विकास एकदम आप ही आप कैसे हो सकता है? प्रेम प्रेम से ही बढ़ता है. प्रेममय सत्कार्यों के ही द्वारा प्रेम-वृत्ति का विकास होता है, और ये प्रेममय सत्कार्य करने के लिए संसार को छोड़कर और कौन स्थान मिल सकता है? संसार में रहकर सांसारिक व्यवहारों को भली भांति साधते हुए प्राणिमात्र में प्रेमभाव दृढ़ करने से हृदय की प्रेमवृत्तियां विकसित होती जाती हैं, और अन्त में, जैसा कि ऊपर कहा है, परमार्थ में स्वार्थ का लय हो जाता है, परोपकार ही मनुष्य का स्वार्थ बन जाता है।

हमने ऊपर यह भली भांति बतलाया है कि मनुष्य एक संस्कारशील और अनुकरणशील प्राणी है। संसार में सदाचार-सम्पन्न और सद्गुणी मनुष्यों की संगति मिलने के अनेक अवसर आते रहते हैं। उनके सहवास से, मनुष्यों की अनुकरणशीलता के कारण, सद्गुणों के विकास में बहुत सहायता मिलती है। साधुओं के सद्गुणों का चित्र जब सदैव

प्रत्यक्ष आँखों के सामने रहता है, तब हृदय का विकास होकर उसकी वृत्तियाँ उन्नत होती जाती हैं। सन्त-समागम की महिमा जगह जगह शास्त्रों मे गाई गई है। राजर्षि भर्तृहरि ने कहा है:—

जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यम्।
मनोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति॥

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्।
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

अर्थात् सत्संगति बुद्धि की जड़ता को दूर करती है, वाणी को सत्य की धारा से सींचती है, मान और उन्नति का मार्ग दिखलाती है, पापों को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है, कीर्ति को चारों ओर फैलाती है—कहिये, सत्संगति क्या नहीं करती? सचमुच ही सत्संगति से सब-कुछ हो सकता है। कुली का काम करके अपना पेट भरनेवाले मावले लोग शिवाजी महाराज की संगति से उनके उच्च गुणों का अनुकरण करके, ऐसे ऐसे पराक्रमपूर्ण कार्य कर गये कि जिनके कारण आज भी इतिहास में बड़े आदर के साथ उनका नाम लिया जाता है। साक्रेटीस के सहवास से प्लेटो के समान तत्ववेत्ता निकले, प्लेटो की सत्संगति से अरिस्टाटल के समान विख्यात पुरुष उत्पन्न हुए। शिवाजी महाराज के उच्च सदाचार के उत्तम संस्कारों का ही यह प्रभाव था कि तानाजी मालुसरे और बाजीप्रभु देशपांडे के समान वीरपुंगवों ने देश-हित के लिये अपने प्राण तक समर्पित कर दिये! अस्तु। इस सांसारिक व्यवहाररूपी रंगभूमि पर आकर नाना प्रकार के पात्र अपने-अपने उच्च नीच कर्म कर जाते हैं। श्रेष्ठ पात्रों के

श्रेष्ठ काम देखकर दर्शकों की मनोवृत्तियां आश्चर्य-चकित हो कर सुन्दर और श्रेष्ठ बनती हैं, नीच पात्र अपने घृणित कार्यों के दुर्दृश्य दर्शकों के समक्ष उपस्थित करके दुष्कार्यों के विषय में उनके मन में घृणा और उद्वेग उत्पन्न करते हैं; और उस दुर्गुणों की घृणा के कारण भी सद्‌गुणों का विकास होने में बहुत सहायता मिलती है। बालपन में जिसके मन पर उत्तम संस्कार पड़े हैं; और प्रौढ़ावस्था में जिसे उत्तम शिक्षा मिली है, वह मनुष्य आगे चलकर संसार में सद्‌गुणों को देखकर प्रसन्न और दुर्गुणों को देखकर उद्विग्न होता है; और अपनी स्वाभाविक अनुकरणशीलता के कारण सद्‌गुणों का अनुकरण करके उन्नत बनता है। व्यावहारिक चारित्र्य अथवा सदाचार का यही रहस्य है।

व्यवहार में जब मनुष्य पड़ता है, तब उसे सभी प्रकार के आवश्यक छोटे-बड़े सांसारिक कार्य करने पड़ते हैं। वे कार्य जब तक पूर्ण नहीं हो जाते, मार्ग में अनेक बार अनेक प्रकार के संकटों और कठिनाइयों के आने की सम्भावना रहती है! परन्तु चूंकि संकटों और कठिनाइयों की परवा न करते हुए उसे अपना अभीष्ट कार्य दृढ़तापूर्वक पूर्ण करना होता है, अतएव उसको पद पद पर अपना उत्साह और बल बढ़ाना पड़ता है। इस प्रकार कठिनाइयों और संकटों से सामना करते-करते मनुष्य का हृदय निर्भय और बलवान् बनता जाता है, उसकी कार्य क्षमता बढ़ती जाती है, और उसकी नैतिक तथा सदाचार-सम्बन्धी उन्नति होती जाती है। किसी कठोर कार्य के दृढ़तापूर्वक पूर्ण करने में मनुष्य को नैतिक शिक्षा से बहुत लाभ होता है। अपने प्रतिपक्षी के दावँ-पेंच सब ध्यान में रखकर उससे प्रत्यक्ष सामना करके जो मल्ल तैयार होता है,

वही शारीरिक शिक्षा में पूर्ण समझा जाता है। उसका शरीर कसा हुआ, सुदृढ़ और बलवान होता है। गणितशास्त्र के पेंचदार और बिकट प्रश्नों को हल करने में यद्यपि विद्यार्थी को बहुत प्रयत्न और परिश्रम करना पड़ता है; किन्तु यह उसके लिए बुद्धि का एक व्यायाम है, और इससे उसकी बुद्धि की प्रखरता बढ़ती, और न सिर्फ गणितशास्त्र में ही, किन्तु अन्य विषयों में भी उसकी बुद्धि यथेष्ट रीति से प्रविष्ट होने लगती है। अँगरेज़ी में एक कहावत है:—

"There is no royal road is learning."

अर्थात् विद्या-प्राप्त करने का कोई एक सहज सा राज-मार्ग नहीं है। कठिनाइयाँ इसमें बहुत आवेंगी, उनका सामना करने से ही सफलता प्राप्त होगी। कठिनाइयों से यदि घबड़ा-यँगे, तो चूंकि बुद्धि को व्यायाम न मिलेगा; और इसलिए उसकी वृद्धि अथवा विकास भी न होगा। यही बात नीति-शिक्षा के लिए भी कही जा सकती है। जो वीर लड़ाई में अपने प्रतिपक्षी का सामना करके अपने बाहुबल से उसको पराजित करता है, उस वीर के शरीर में वीरश्री का संचार होता है। इसी भाँति संसाररूपी समरांगण में कठिनाइयों और संकटों से सामना करके जो वीर उनको पराजित करते हुए अपने अंगीकृत कार्य को सिद्ध कर ले जाता है, उसकी नैतिक शक्ति बराबर बढ़ती ही रहती है। विद्वानों ने कहा है कि सांसारिक व्यवहारों में मनुष्य को जो संकट और कठिनाइयाँ घेरती हैं, इसमें भी ईश्वर का कोई ख़ास उद्देश्य रहता है। उनको कथन है कि इन संकट और कठिनाइयों के कारण ही मनुष्य के साहस, धैर्य और नैतिक बल की परीक्षा होती है,

और इन गुणों को बढ़ाने के लिए ही परमेश्वर मनुष्य के सामने संकट उपस्थित करता है। कष्ट सहन करने से शरीर की सहनशक्ति बढ़ती है। इसी प्रकार व्यावहारिक संकटों के कारण भी मनुष्य की सहनशीलता बढ़ती है; और कार्यक्षमता प्राप्त होती है। हां, उन संकटों से भिड़ने की दृढ़ता मनुष्य में अवश्य चाहिए।

गेंद को जितने ज़ोर से पटकिये, उतना ही वह ऊपर उछलता है; जैसा आघात होता है, वैसा ही प्रत्याघात भी होता है। अतएव जैसे संकट आवें, वैसी ही उनसे मुक़ाबला करने की दृढ़ता और शक्ति भी चाहिए, तभी नैतिक सामर्थ्य बढ़ सकता है। यदि दृढता नहीं होगी, तो पराजित होना पड़ेगा; और इससे हृदय में निर्बलता आने के कारण नैतिक बल भी क्षीण होगा। इसी लिए महापुरुष, संकटों के आने पर उनकी परवा नहीं करते, बड़े धैर्य के साथ उनको झेलते हैं। ऐसे ही महापुरुषों के विषय में भर्तृहरि जी ने कहा है:—

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

अर्थात् विघ्नों के द्वारा बार-बार प्रतिरोध होने पर भी उत्तम पुरुष एक बार प्रारम्भ किया हुआ कार्य कभी छोड़ते नहीं।

बालपन में यदि मनुष्य के मन पर सुसंस्कारों का प्रभाव नहीं पड़ता; और प्रौढ़ावस्था में शिक्षा के द्वारा यदि उसको हार्दिक वृत्तियों का विकास नहीं होता, तो दुस्तर सांसारिक व्यवहारों में मनुष्य का पार लगना बहुत कठिन हो जाता है। विस्तृत समुद्र में झंझावात से डोलने और डगमगानेवाली

नौका की जो दशा होती है, वही दशा उस मनुष्य की भी होती है। मनुष्य की तमाम वृत्तियों को उत्तेजित करके उनको सदाचार और नीति के पथ से भ्रष्ट करनेवाले अनेक अवसर इस जीवन-कलहपूर्ण संसार में आते रहते हैं। उन अवसरों का धैर्य के साथ मुक़ाबला करने की शक्ति यदि नीति-शिक्षा के द्वारा मनुष्य को प्राप्त नहीं हुई, तो सदाचार से गिर जाने में उसको कुछ भी विलम्ब न लगेगा। ऐसे मनुष्यों के उदाहरण इस संसार में कुछ कम नहीं दिखाई देते कि जो इसी प्रकार नीति-भ्रष्ट होकर अनीति के गढ़े में गिरकर नाश हो गये हैं। सदाचार की रक्षा और वृद्धि होने के लिए ही इन सांसारिक व्यवहारों की योजना हुई है, परन्तु जो मनुष्य पद-पद पर इनको जाँचते हुए नहीं चलता है, उसका नाश भी अवश्यम्भावी है। इसलिए व्यवहार में विवेक को साथ लेकर सदैव चलना चाहिए। विवेक-भ्रष्ट मनुष्य की दशा भर्तृहरिजी ने, गंगाजी का बहुत सुन्दर उदाहरण देकर, बतलाई है। वे कहते हैं :—

> शिरः शार्वं स्वर्गात्पतति शिरसस्तत्क्षितिधरम् ।
> महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ॥
> अधो गङ्गा सेयं पदमुपगता स्तोकमथवा ।
> विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥

अर्थात् गंगा पहले स्वर्ग से शिवजी के मस्तक पर गिरीं, फिर वहाँ से ऊँचे पर्वत पर, पर्वत से पृथ्वी पर और पृथ्वी से समुद्र में—इस प्रकार क्रमशः फिसलती ही चली गईं, और क्षीण भी होती गईं। बस, इसी भाँति विवेकभ्रष्ट पुरुष भी सौ सौ बार मुँह की खाते हैं!

सारांश यह है कि, बाल्यावस्था में यदि मनुष्य के मन पर उत्तम संस्कार नहीं पड़ते, प्रौढ़ावस्था में नीतिशिक्षा के द्वारा यदि उसकी हार्दिक वृत्तियों का विकास नहीं होता, तो अगले व्यावहारिक जीवन में सदाचार से फिसलने का उसके लिए बहुत भय रहता है; और एक बार नीति से फिसला हुआ मनुष्य प्रायः फिर फिसलता ही जाता है। इसलिए सांसारिक व्यवहारों में दक्ष रहकर, सदाचार और नीति के साथ चलकर, आत्मोन्नति करते हुए, जो मनुष्य अपने जीवन को सफल कर लेता है उसी का जन्म संसार में सार्थक है।

पांचवाँ प्रकरण

सदाचार और सत्कार्य

पिछले प्रकरण में हमने यह बतलाया कि सांसारिक कर्तव्यों और व्यवहारों को सुचारु रूप से सम्पादित करने से मनुष्य की हार्दिक वृत्तियों का विकास होता जाता है ; और उसका सदाचार और नीति बढ़ती जाती है। संसार नीति-शिक्षा पाने के लिए एक बहुत ही उत्तम पाठशाला है ; और इस पाठशाला में जो परिश्रम और दृढ़ता के साथ अध्ययन करता है, वह सदाचार की परीक्षा में बहुत उत्तम उत्तीर्ण होता है। अब हम इस प्रकरण में इस बात का कुछ विवेचन करेंगे कि सत्कार्यों का मनुष्य के सदाचार और उसकी नीति पर कैसा प्रभाव पड़ता है; और वे कैसे बढ़ते जाते हैं ; और दुष्कार्यों से वह कैसा नीति-भ्रष्ट होता जाता है।

शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु अपने स्पर्श से सब को सुख और सन्तोष देती है, चन्द्र अपनी शीतल और आह्लाददायक किरणों से सबको सुख और आनन्द देता है, वृक्ष स्वयं धूप की तपन सहकर दूसरों को अपनी शीतल छाया से सुख और आनन्द देते हैं। इसी प्रकार परोपकारी पुरुष अपने सत्कार्यों से सबको सुख देता है। परन्तु जड़-सृष्टि के पदार्थों और

चैतन्य-सृष्टि के जीवों में एक बड़ा भारी अन्तर है। और वह यह कि, यद्यपि जड़-सृष्टि के पदार्थ और चैतन्य-सृष्टि के जीव, दोनों, अपने सद्गुणों से दूसरों के लिए समान ही सुखदायक होते हैं, फिर भी जड़-सृष्टि के पदार्थों के सद्गुणों का स्वयं उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वृक्ष अपनी शीतल छाया से दूसरे का सन्ताप शमन करके उसको सुख अवश्य देता है; परन्तु अपनी छाया से उसे स्वयं क्या लाभ होता है? इसी भाँति सुगन्धयुक्त वायु का उसकी सुगन्ध से स्वयं उसको क्या लाभ पहुँचता है? इसी प्रकार शीतल और आह्लाद-कारक चन्द्रकिरणों से स्वयं चन्द्र को क्या कुछ लाभ पहुँचता है? कस्तूरी की ख़ुशबू दूसरे को आनन्ददायक होती है; किन्तु कस्तूरी को इससे क्या? परन्तु चैतन्य सम्पन्न जीवों की, और उनमें भी विशेषकर विवेक बुद्धि-युक्त मनुष्यों की, यह दशा नहीं है। मनुष्य के परोपकारादि सत्कार्यों से दूसरों को तो सुख होता ही है; किन्तु उसके साथ ही परोपकार करनेवाले मनुष्य को भी उससे सन्तोष होता रहता है। लूले-लँगड़े इत्यादि अनाथ और निराश्रित लोगों को तथा ग़रीब विद्यार्थियों को और इसी प्रकार नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित पुरुषों को सहायता करने से इन लोगों को तो आराम पहुँचता ही है; किन्तु इन पर उपकार करनेवाले मनुष्य को एक प्रकार का विचित्र सुखसमाधान प्राप्त होता है।

मानवी हृदय संस्कारशील है, वह मिट्टी के ढेले के समान निश्चेष्ट नहीं है। जिस प्रकार सूर्यकिरणों का प्रवेश शुद्ध स्वच्छ स्फटिक मणि में होता है, उसी प्रकार सत्कार्य का प्रकाश कर्त्ता के हृदय पर पड़ता है, और उसका हृदय निर्मल होता जाता है। हृदय-पटल पर सब बुरे-भले कार्यों की छाप अबा-

धित रूप से पड़ती रहती हैं। सत्कार्यों के स्वच्छ प्रकाश से वह भी तेजस्वी होता जाता है, और काले कर्मों से उसका तेज लुप्त होता है; और अन्त में वह पूर्ण अन्धकारमय हो जाता है। सब बुरे-भले कार्यों का हिसाब और जमा ख़र्च मनुष्य के हृदय में बराबर अंकित होता जाता है। कोई होशियार मुनीम भी शायद किसी समय अपना कोई जमा-ख़र्च भूल सकता है; किन्तु हृदय में सब भले-बुरे कर्मों का उल्लेख कभी चूक नहीं सकता। मानवी हृदय की रचना ही अपूर्व है! इस हृदय पर सब बुरे-भले कार्यों के संस्कार आप ही आप होते रहते हैं; और उन्हीं बुरे-भले संस्कारों के अनुसार मनुष्य की आत्मा उन्नत अथवा अवनत होती जाती है।

सत्कार्यों से मन को अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकार का सन्तोष प्राप्त होता है। उत्तम और सुगन्धित फूलों की सुगन्ध यदि हम बराबर लेते रहें, तो अवश्य ही उसकी सुगन्ध का माधुर्य्य कम होता जायगा। सुन्दर गान यदि कभी कभी हम को सुनने को मिलेगा, तब तो हमारी रुचि उस पर बनी रहेगी; किन्तु वही गायन की आलाप यदि हमारे कानों में टक्कर मारती रहेगी, तो अवश्य ही फिर उसकी मधुरता जाती रहेगी। मतलब यह है कि आधिभौतिक सुख क्षणिक होते हैं। गीता में कहा है :—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

अर्थात इन्द्रियों और उनक विषयों के संयोग से जो सुख होता है, वह पहले तो अमृत के समान सुखदायक मालूम होता है; परन्तु अन्त में उससे दुःख ही होता है। ऐसा सुख

राजस है।" यह सात्विक नहीं है। अँगरेज़ी में भी इसी आशय की कहावत है :—

"pleasures pall"

अर्थात् इन्द्रिय-सुखों से अन्त में जी अवश्य उद्विग्न हो जाता है। परन्तु परोपकारजन्य परमार्थिक सुख का यह हाल नहीं है। वह सात्विक सुख है। उसके विषय में श्रीकृष्ण महाराज ने गीता में यों कहा है :—

तत्सुखं सात्विकं प्रोक्त' आत्मबुद्धिप्रसादजम्।

अर्थात् अपनी बुद्धि की प्रसन्नता से जो सुख होता है, और जिसका सम्बन्ध इन्द्रियसुख से नहीं है किन्तु आत्मा से जिसका सम्बन्ध है वही सात्विक सुख है। बुद्धि प्रसन्न क्योंकर होती है? आत्मा से किस सुख से सम्बन्ध है? सत्कार्यों से ही बुद्धि प्रसन्न होती है, और उससे जो सुख मिलता है, वही पारमार्थिक अथवा आत्मिक सुख है। इस सुख से मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता, इसके विषय में मनुष्य की रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

जैसा कि ऊपर बतलाया, सत्कार्यों से मन को जब श्रेष्ठ प्रकार का सन्तोष मिलता जाता है, तब हृदय की क्षुद्र वृत्तियों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जाती है, और सत्कार्यों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। जिस प्रकार शरीर में रक्त-संचार की क्रिया यदि यथोचित्त रूप से जारी रहती है, तो शरीर में शक्ति बनी रहती है, और इस कारण किसी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार सत्कार्यों से मनको उच्च श्रेणी का संतोष जब मिलता जाता है, तब हृदय में तामस-वृत्तियों का प्रादुर्भाव नहीं होने पाता। गीता में कहा है :—

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता से सब दुखों का नाश होता है। यह बिलकुल ठीक है। मानवी हृदय का धर्म ही है कि सत्कार्यों से उत्पन्न होनेवाले श्रेष्ठ आनन्द से हृदय की श्रेष्ठ वृत्तियों की उन्नति होती जाती है। परमेश्वर ने अपने अतर्क्य चातुर्य और दयालुता से मनुष्य को यह हृदयरूपी परमोत्तम धन दिया है। इसी हृदयरूपी धन के बल पर मनुष्य अपनी चाहे जितनी उन्नति कर सकता है। वेदान्त में कहा ही है कि मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है। हृदय को उन्नत बना कर मनुष्य परब्रह्म की पदवी तक पहुँच जाता है। सांसारिक व्यवहारों में भी हम कहा करते हैं कि "देखो, भाई, यह मनुष्य नहीं देवता ही है।" यह सब हृदय की उन्नति से हो सकता है।

कई लोगों का यह सिद्धान्त रहता है कि, कहां का सत्कार्य, और कहाँ का दुष्कार्य! "खाओ, पीओ, सब सुख पाओ, कभी न लाओ मन में खेद।" जिस प्रकार के कर्मों से हम को आनन्द मिले, वही कर्म करो। परन्तु ऐसे लोगों को सच्चा सन्तोष और शुद्ध आनन्द कभी मिल नहीं सकता। हाँ, उनकी क्षणिक वासनाओं की तृप्ति अवश्य हो जायगी; परन्तु विषय-वासनाओं की केवल तृप्ति ही तो सच्चा सुख नहीं है। और फिर वासनाएँ भी स्थायी रूप से तृप्त नहीं होतीं! इनका तो यह हाल है कि इनको जैसे-जैसे इन्द्रियों के विषय-भोग मिलते जाते हैं, वैसे ही वैसे ये और भी अधिक बढ़ती जाती हैं। और उन वासनाओं की उस प्रज्वलित अग्नि में हृदय की उपकारी सद्वृत्तियों की आहुति पड़ती जाती है। अथवा यों कहिये कि सद्वृत्तियों के अंकुर उस जलती हुई

विषयाग्नि" की लपट से बिलकुल झुलस जाते हैं। सत्कार्यों से जो श्रेष्ठ और शुद्ध आनन्द मिलता है, उसकी तुलना उच्च से उच्च विषयानन्द से भी नहीं की जा सकती। किसी मादक द्रव्य के सेवन से तात्कालिक, शारीरिक और मानसिक बल अवश्य आ जाता है, परन्तु क्या यह बनावटी बल कभी भी उस बल का मुक़ाबला कर सकता है कि जो मनुष्य को अपने उत्तम स्वास्थ्य से स्थायीरूप में प्राप्त होता है? मादक द्रव्य के सेवन से जो जोश और उत्तेजना आती है, वह सच्ची नहीं है, उसके कारण अन्त में शरीर क्षीण और निर्बल हो जाता है। वात-विकार से भी कभी-कभी मनुष्य जोश से उछ-लने लगता है; किन्तु क्या वह सच्चा जोश कहा जा सकता है? दुष्कार्यों से हृदय की नीच वृत्तियाँ जब जागृत हो जाती है, तब उच्च वृत्तियों का लोप अवश्य ही हो जाता है। परमात्मा ने मानवी हृदय की रचना ही ऐसी की है कि, उसमें एक ही काल में दो परस्पर विरुद्ध वृत्तियों का विकास नहीं हो सकता। जिस ज़मीन में कांटे हैं, उसमें उत्तम धान्य के बीज क्या कभी उग सकते हैं? एक ही पदार्थ एक ही समय में ठंढा और गरम कैसे रह सकता है? जिस प्रकार ऊसर ज़मीन में बीज नहीं जमता, उसी प्रकार दुष्ट मनोवृत्तियों से घिरे हुए हृदय में सद्वृत्तियों का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। सारांश यह है कि सत्कार्यों से होनेवाला आनन्द ही सच्चा आनन्द है; और इसी आनन्द के द्वारा हृदय की सद्वृत्तियों का विकास होता है; और उत्तरोत्तर सत्कार्य करने के लिए मनुष्य अधि-काधिक प्रवृत्त होता है। दुष्कार्यों से मन को सच्चा समाधान नहीं होता; और दुष्कर्मों में प्रवृत्त करनेवाली आसक्ति ही बढ़ती जाती है। जैसे समुद्र के बलवान् नक्रों के इधर-उधर

संचार के कारण पानी की स्थिरता नष्ट हो जाती है; और सर्वत्र क्षुब्धता पैदा हो जाती है, उसी प्रकार दुष्कार्यों से उत्पन्न होनेवाली दुष्ट वासना के कारण हृदय की शान्ति और स्थिरता बिलकुल नष्ट हो जाती है; और चंचलता तथा अनीति का साम्राज्य बढता जाता है।

यह ऊपर कहा गया है कि मानवी अन्तःकरण संस्कार-शील है। सदाचार और नीति के मार्ग पर जानेवाले यात्री के लिए सुसंस्कार ही उत्तम साधन-सामग्री है। नीति के अति उच्च और प्रकाशमान शिखर पर पहुँचने के लिए सुसंस्कारों का ही सोपानमार्ग (ज़ीना) बनाना चाहिए। परन्तु यदि मनुष्य के हृदय पर बार-बार बुरे संस्कार ही अपना प्रभाव डालते रहेंगे, तो अनीति की पिशाचिनी अवश्य उसे आ घेरेगी। घड़ी के स्प्रिङ्ग का एक-एक घेरा घुमाने से जब कुञ्जी भर जाती है, तब घड़ी व्यवस्थित रीति से चलती रहती है। इसी प्रकार संस्कार भी हृदयरूपी घड़ी को गति देनेवाले एक प्रकार के स्प्रिङ्ग के घेरे ही हैं। हृदय पर जो संस्कार पड़ते हैं वे प्रायः बुरे-भले कार्यों से पड़ते हैं; और वही संस्कार आगे चलकर जब प्रबल हो जाते हैं, तब मनुष्य को बुरे-भले कार्यों में प्रवृत्त करते हैं। कर्मों से संस्कार और संस्कारों से कर्म उत्पन्न होते हैं। इन दोनों का पारस्परिक बड़ा घना सम्बन्ध है। ऐसी दशा में सत्कार्यों के द्वारा हृदय को संस्कृत करने का प्रयत्न प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करना चाहिए। सत्कार्यों से होने वाले सुख और आनन्द का अनुभव ज्यों-ज्यों मनुष्य को होता जायगा, ज्यों-ज्यों वह इस आनन्द और सुख का स्वाद चखता जायगा, त्यों-त्यों उस स्वाद के लिए सत्कार्य करने को वह और भी अधिक उत्तेजित होता जायगा; और फिर दुष्कार्यों

की ओर से स्वाभाविक ही उसे घृणा हो जायगी। एक बार अमृत का स्वाद मिल जाने पर फिर मामूली जल किसको अच्छा लगेगा? सूर्य को छोड़कर खद्योत की चाह किसको होगी? घृत छोड़कर तेल कौन पसन्द करेगा?

सत्कार्यों से हृदय की उन्नति होती है अवश्य; और यह उन्नति करने के लिए मनुष्य को वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों का उत्तम रूप से पालन करना चाहिए। उक्त कर्तव्य कैसे पालन करना चाहिए—इस विषय में गीता में कहा है :—

मय सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निरशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

अर्थात् अध्यात्मबुद्धि से मेरे तईं सब कर्मों का अर्पण करके और आशा ममता छोड़कर युद्ध करो। यह संसार भी एक युद्धभूमि ही है। ईश्वर में चित्त रखकर अपने सब कर्तव्यों को करते रहो; और उनका फल ईश्वर को अर्पण करो, किसी में ममता न रखो; और न किसी की आशा रखो कार्य करने के तुम अधकारी हो, फल की इच्छा रखने के नहीं। हम केवल निमित्तमात्र हैं, करने-करानेवाला ईश्वर है। इस विस्तृत संसार को उसी ने उत्पन्न किया है, उसी की शरण में जाओ। उसीको समर्पित करने के हेतु से अपने सब पवित्र कर्तव्य कर्म सदैव करते रहो। यदि तुम में यह अहंकारभाव उत्पन्न हो जायगा कि कर्त्ता हम हैं, तो कार्य उत्तम रीति से नहीं होगा; और उसका परिणाम भी उत्तम नहीं होगा; और यदि कृष्णा ण-बुद्धि से काम करोगे, तो तुम्हारे हृदय का अहंकारभाव नष्ट हो जायगा; और वह क्रमशः पवित्र तथा शुद्ध होकर उन्नत बनेगा।

सब का सारांश यह है कि, हृदय की फलासक्ति, ममता, इत्यादि दुष्ट वृत्तियों को दूर करके, चित्त स्थिर और शान्त रखकर, कर्म करना चाहिए। चित्त की वृत्तियों को स्थिर और शान्त रखकर यदि कर्तव्य किया जाता है, तो उससे श्रेष्ठ आनन्द प्राप्त होता है; और हृदय की उन्नति होती है। जिस मन में कोई विकार नहीं है, वही शान्त होता है; और सत्कार्यों के द्वारा उस पर बहुत अच्छे संस्कार पड़ते हैं, इससे हार्दिक वृत्तियों का विकास होता है। जैसे मलीन दर्पण में किसी पदार्थ का स्वरूप शुद्ध दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार कलुषित हृदय में संस्कारों का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक नहीं पड़ता। जैसे किसी वस्त्र में रंग देने के पहले उसको धो-कर स्वच्छ और निर्मल करना होता है, तब उस पर रंग अच्छा खिलता है, इसी भाँति हृदय की शुद्धता होने पर उसपर सत्कार्यों के संस्कारों का रंग भी अच्छा खिलता है। मतलब यह है कि चित्त-वृत्तियों के अस्थिर होने पर कर्तव्य भली भाँति नहीं पूर्ण हो सकता; और कर्तव्य के भली भाँति सम्पादित न होने के कारण हृदय पर उत्तम संस्कार भी नहीं पड़ते। हृदय की निर्दोषावस्था में यदि कर्तव्य-कर्म किये जाते हैं, तो उनसे उच्च श्रेणी की शान्ति, सुख और सन्तोष मिलता है; और हृदय उन्नत होता है।

एक बात और भी है। वह यह कि यदि हमारे हृदय की वृत्तियाँ स्थिर और शान्त नहीं रहतीं, तो कर्तव्य समुचित रूप से पूर्ण करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, उन गुणों का प्रादुर्भाव भी हमारे हृदय में नहीं होता। हृदय को स्थिर और शान्त रखकर यदि कर्तव्य किया जाता है, धैर्य, उत्साह, दृढ़ता, इत्यादि आवश्यक गुणों की वृद्धि होती

है ; और कार्यक्षमता आती जाती है। प्रकृति अस्वस्थ होने पर प्रतिपक्षी से सामना करने के लिये क्या कोई वीर आगे बढ़ सकता है ? उसके हृदय में उत्साह ही रहेगा, इसी भाँति हृदय की स्थिर दशा में जो सद्गुण बढ़ते हैं, वे उसकी अस्थिर अवस्था में कैसे विकसित हो सकते हैं ?

इसी प्रकार यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि चित्तवृत्ति स्थिर रखकर जब मनुष्य कर्तव्य करने लगता है, तब उसके हृदय में ऐसी दृढ़ सद्बुद्धि धीरे-धीरे उत्पन्न होने लगती है, कि जो उसको सदैव सत्कार्यों की ओर प्रवृत्त करती रहती है ; और इस सद्बुद्धि से कर्तव्यनिष्ठा बढ़ती है। यह कर्तव्य-निष्ठा हृदय की अत्यन्त श्रेष्ठ वृत्ति है । इस कर्तव्यनिष्ठा की ज्योति ज्यों-ज्यों अधिकाधिक प्रकाशित होती जाती है, त्यों त्यों सद्गुणों की वृद्धि होती जाती है ; और मनुष्य की नैतिक उन्नति तेज़ी के साथ होने लगती है । राजर्षि भर्तृहरि कहते हैं :—

मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ।

अर्थात् जो दृढ़ पुरुष कार्य करने में एक बार तत्पर हो जाता है, वह फिर बीच में आनेवाले सुखदुःखों की परवा नहीं करता। इसीका नाम कर्तव्यनिष्ठा है । यह कर्तव्यनिष्ठा जब मनुष्य में उत्पन्न हो जाती है, तब मनुष्य किसी प्रकार के भी विघ्नबाधाओं की परवा नहीं करता ; और अपने कर्तव्य पर चट्टान की तरह अटल हो जाता है। जो कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य अपने सत्कार्य को पूर्ण करने का दृढ़ संकल्प कर लेता है उसको उसके सत्कार्य से परावृत्त कराने में कोई भी शक्ति समर्थ नहीं हो सकती। महाकवि कालिदास ने अपने कुमार-सम्भव में इस विषय में क्या ही सुन्दर उक्ति की है :—

क इप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः।
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥

अर्थात् अभीष्ट कार्य सिद्ध करने के लिए दृढ़ता धारण करनेवाले मन और नीचे की ओर प्रवाहित होनेवाले जल के स्रोत को कौन पीछे हटा सकता है? ठीक ही है, जिस महा-पुरुष के हृदय में कर्तव्य-निष्ठा ने घर कर लिया है, उसका तन मन, धन, सब कुछ यदि कर्तव्य में ही लग जाय, तो इसमें आश्चर्य क्या है?

जितने भी महापुरुष संसार में होगये हैं, उनके जीवन-चरित्र पढ़ने से जान पड़ता है कि कर्तव्यनिष्ठा का गुण उनमें अवश्य ही था। शिवाजी महाराज के विषय में एक आख्या-यिका इस प्रकार प्रसिद्ध है। महाराज जब कि दिल्ली से औरंगज़ेब के पंजे से छूटकर आरहे थे, मार्ग में तबीयत ख़राब होजाने के कारण किसी गाँव में एक ब्राह्मण के घर ठहर गये। औरंगज़ेब को जब यह समाचार मालूम हुआ कि शिवाजी हमारे पंजे से निकल गये तब उसने उनकी तलाश में चारों ओर अपने जासूस भेजे। इधर महाराज जिस गाँव में ठहरे थे, वहां भी कुछ लोग आकर उनकी तलाश में करने लगे। औरंगज़ेब के धार्मिक ज़ुल्म से वैसे ही लोग पीड़ित हो रहे थे, फिर उसमें भी बादशाह के भेजे हुए वे यमदूत महाराज शिवाजी का पता लगाने के लिए उक्त गाँव के लोगों को और भी अधिक तंग करने लगे। लोग बहुत हैरान हुए। यह समा-चार वह ब्राह्मण, जिसके घर में महाराज ठहरे थे, प्रति दिन विस्तार के साथ उनको बतलाया करता था। अवश्य ही उस ब्राह्मण को यह नहीं मालूम था कि हमारे घर में ठहरा हुआ

महापुरुष शिवाजी है; क्योंकि महाराज उस समय किसी साधू के वेष में थे। परन्तु वह ब्राह्मण स्वाभाविक ही वार्तालाप करते-करते कहने लगा कि दक्षिण में जो शिवाजी नाम का महापुरुष पैदा हुआ है, वह न जाने कब हमको बादशाह के अत्याचारों से छुड़ावे! कहते हैं कि यह वचन सुनते ही महाराज शिवाजी की कर्तव्यनिष्ठा ऐसी उद्दीपित हो उठी कि उनकी सूरत बदल गई! कर्तव्यनिष्ठा का तेज उस समय उनमें इतना बढ़ गया कि वह हृदय में न समाया; और उसकी प्रभा उनके मुखमण्डल पर चमकने लगी!

हमने यह ऊपर बतलाया कि चित्तवृत्ति को स्थिर रखने का अभ्यास बढ़ाने से धीरे-धीरे सद्बुद्धि उपजती है; और कर्तव्यनिष्ठा बढ़ती है, इससे मनुष्य के द्वारा सत्कार्य होते हैं! और उसकी सदाचार सम्बन्धी उन्नति होती जाती है। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि चित्तवृत्ति को स्थिर रखने का अभ्यास करते समय काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य इत्यादि शत्रु और आशा, ममता, तृष्णा, इत्यादि उनकी संगिनी पिशाचवृत्तियाँ हमारे मार्ग में अनेक विघ्न उपस्थित करती हैं, जिससे मन में चंचलता आ जाती है; और शान्ति विचलित हो जाती है। अतएव जहाज का कप्तान जिस प्रकार दीपस्तम्भ के दीपक की ओर पूर्ण लक्ष रखकर अपना जहाज़ चलाता है, अथवा मत्स्यवेध करनेवाला कुशल धनुर्धारी उस मत्स्य को लक्ष्य करके जैसे अपना अचूक निशाना लगाता है, उसी प्रकार, किसी भी क्षुद्र वृत्ति से अपने चित्त को चंचल न होने देकर, अपने जीवन-जहाज़ को आगे बढ़ाना चाहिए—अपने कर्तव्य-लक्ष्य का वेध करना चाहिए। शुकदेवजी महाराज के विषय में आख्यायिका है कि जब वे महादार्शनिक विदेह राजा

जनक के यहाँ विद्याभ्यास करने गये, तब राजा ने उनकी बाल्यावस्था देखकर उनकी चित्त-एकाग्रता की परीक्षा करनी चाही; क्योंकि जो विद्यार्थी अपना चित्त एकाग्र नहीं कर सकता, उससे विद्याभ्यास नहीं हो सकता। प्राचीन काल में जो विद्यार्थी गुरुकुल में भरती होने जाते थे, उनकी चित्त-एकाग्रता की परीक्षा गुरुलोग पहले कर लेते थे; और जब उनको विद्याभ्यास का अधिकारी समझ लेते थे, तभी उनको अपने हाथ में लेते थे। अस्तु! इसी प्रथा के अनुसार राजा जनक ने शुकदेवजी की परीक्षा लेनी चाही। इसके लिए उन्होंने एक सुन्दर दीवानख़ाना सजाया। उसमें नाना प्रकार की चित्ताकर्षक और सुन्दर वस्तुएँ जगह-जगह साजी गईं। इसके बाद एक दिन उसमें दरबार किया गया। दरबारी लोगों के एकत्र हो जाने पर संगीत-कला-कुशल गवैयों और वेश्याओं ने अपना मधुर गायन प्रारम्भ किया। मनोहर वाद्य बजने लगे। इसके बाद राजा ने शुकदेवजी को बुलाया; और एक रूपे का प्याला ख़ूब ऊपर तक दूध से भर कर उनके हाथ में दिया; और दीवानख़ाने के आसपास तीन बार घूम आने के लिये कहा। शुकदेवजी उस प्याले को लेकर राजा के आज्ञानुसार तीन बार उस दीवानख़ाने के चारों ओर घूम आये; परन्तु एक बूंद भी उस प्याले से नीचे नहीं गिरा! उनकी चित-एकाग्रता की परीक्षा हो गई। कवि कालिदास जी कहते हैं :—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते ।
येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥

अर्थात् चित्त को विकृत करनेवाले कारणों के उपस्थित रहते हुए भी जिनका चित विकृत नहीं होता, वही धीर हैं।

सारांश यह है कि, चाहे जैसे मौके आवें, चित्तवृत्तियों को चंचल न होने देकर जब मनुष्य बराबर अपना पवित्र कर्तव्य करता रहता है, तब उसमें कर्तव्यनिष्ठा उत्पन्न होती है, वह उत्तरोत्तर सत्कार्य करने में दृढ़ होता जाता है, इससे उसे श्रेष्ठ सुख और सन्तोष प्राप्त होता है, उसका सदाचार सम्बन्धी तेज बढ़ता जाता है।

छठवाँ प्रकरण

आत्म-निरीक्षण

पिछले प्रकरण में यह बतलाया गया कि, निर्दोष और स्थिर अन्तःकरण में सद्बुद्धि की उपज होती है, सद्बुद्धि से कर्तव्यनिष्ठा बढ़ती जाती है, जब कर्तव्यनिष्ठा बढ़ने लगती है, तब मनुष्य के द्वारा सत्कार्य होने लगते हैं, सत्कार्यों से हृदय पर उत्तम संस्कार पड़ते हैं जिससे सदाचार और नीति की वृद्धि होती है। हृदय जब दोषों से कलुषित हो जाता है, तब सद्बुद्धि का लोप हो जाता है। यदि आप चाहते हैं कि सत्कार्यों की ओर आपकी प्रवृत्ति हो; और आपके सदाचार की उन्नति हो, तो सद्बुद्धि स्वच्छ और निर्मल गङ्गाजल का प्रवाह आपके हृदय में अवश्य सदैव बहते रहना चाहिए। हृदय खूब शुद्ध और पवित्र रहना चाहिए। यह पवित्रता रूपी वृक्ष बढ़े; और उससे उत्पन्न होनेवाले पवित्र और मधुर सत्कार्य्य रूपी फलों का स्वाद प्राप्त हो—यह कैसे हो? उस पवित्रतारूपी ज्योति का तेज कैसे स्थिर रखा जाय? इस ज्योति का तेज हृदय में फैलाकर दुष्कार्य-प्रवर्तक दोष रूपी अन्धकार का नाश करना चाहिये। शरीर में जब तक कोई कष्ट मौजूद है, तब तक वह सुदृढ़ कैसे हो सकता है? वृक्ष में लगी हुई दीमक जब

तक निकाल न डाली जाय तब तक वह कैसे बढ़ सकता है ? जहाँ असुरों का राज्य है, वहाँ देवताओं की कैसे चल सकती है ? जहाँ दारिद्र्य विराजमान है, वहाँ लक्ष्मी देवी का प्रवेश कैसे हो ? जहाँ दुर्जनों का संचार हो रहा है, वहाँ सज्जनों का ठिकाना कैसे लगे ? विषैले सर्प के तीव्र विष से दग्ध हो जानेवाले वृक्ष में सुरस कहाँ से मिले ? मतलब यह है कि यदि सद्गुणों का उदय और उनका यथोचित विकास चाहते हैं, तो दुर्गुणों का हृदय से उच्छेद होना आवश्यक है।

सद्गुणों का उदय और उनका विकाश होने के लिए दुर्गुणों का लोप होना चाहिये सही ; परन्तु यह हो कैसे ? बिल्ली के गले में घंटी बाँधी कैसे जाय ? बिल्ली से चूहों को बहुत कष्ट पहुँचता था, उसके दूर करने के लिए चूहों की एक बड़ी सभा हुई। उस सभा में अनेक उपायों के विषय में चर्चा और ऊहापोह हुआ। अनेक मूषक सभासदों ने अनेक उपाय सुझाये ! किन्तु उनमें से एक भी सभा को पसन्द नहीं आयी। कुछ उपाय सर्वसम्मति से, तो कुछ बहुसम्मति से, नापसन्द किये गये। कोई उपाय ठीक-ठीक नहीं जमा। सब मूषक सभासदों ने अपनी-अपनी बुद्धि की पराकाष्ठा कर दी, किन्तु कोई उपाय सूझा नहीं। इतने में एक चतुर और बुद्धिमान मूषकराज बोलने को उठे, और कहने लगे कि, "बिल्ली से चूहों को कष्ट न हो, इसका एक ही सर्वोत्तम उपाय हमारी समझ में आता है ! और वह यह है कि, बिल्ली के गले में घंटी बाँधी जाय, इससे क्या होगा कि जब बिल्ली आने लगेगी, घंटी बजेगी, और हम सब लोग सावधान हो कर अपने-अपने बिलों में भाग जाया करेंगे।" इस उत्तम युक्ति पर सब सभासदों ने मिल कर खूब ही करतल-ध्वनि की

चारों ओर से उस मूषकराज की बुद्धि की प्रशंसा की ध्वनि आने लगी! परन्तु इतने ही में एक प्रौढ़ अनुभवी मूषक उठा! और बोला—"मित्रो, हमारे चतुर मूषकराज ने यह युक्ति तो बहुत ही उत्तम सुझाई है, परन्तु यह उपाय अमल में किस तरह लाया जायगा? बिल्ली के गले में घंटी बाँधने की युक्ति तो अच्छी सोची, किन्तु बांधेगा कौन?" उस प्रौढ़ मूषक का यह भाषण सुनकर सब सभासद मौन हो रहे! दुर्गुणों का निर्दलन करके सद्गुणों के स्थापन करने का उपाय सोचते समय उपर्युक्त कल्पित कहानी का स्मरण अवश्य ही हो आता है। दोषों का निर्मूलन करना चाहिए, अवश्य। परन्तु यह किया कैसे जाय? यह कार्य भी वैसा ही कठिन है कि जैसे कोई चूहा बिल्ली के गले में घंटी बाँधने जाय! काम वास्तव में सहज नहीं है। खूब चूहे खाकर जो बिल्ली काफ़ी मज़बूत हो रही है, उसके गले में यदि कोई चूहा घंटी बाँधने जायगा, तो बात की बात में उसको झपटकर गड़प कर जायगी! इसी प्रकार हृदय के सद्गुणों के स्वाभाविक अंकुरों को निगल कर पुष्ट होनेवाली दोषरूपी बिल्ली सद्गुणों की वृद्धि कैसे होने देगी?

चंचल चित्त को रोककर उसके दोषों को नाश करके, उसमें सद्गुणों की ज्योति उत्पन्न करना वायु की गठड़ी बांधने के समान कठिन काम है। अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं:—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् "हे कृष्ण, यह मन अत्यन्त चञ्चल, उद्भट, बलवान् और कठिनाई से मार्ग पर आनेवाला है। इसका निग्रह

करना मुझे ऐसा दुष्कर दिखाई देता है, जैसे हवा की मोट बांधना।" सचमुच मन ऐसा ही है। किसी चित्र में यदि कुछ त्रुटि होती है, तो चतुर चित्रकार अपनी कलम से उस त्रुटि को तत्काल निकाल डालता है; परन्तु परमेश्वर के इस सजीव चित्र का कोई दोष दूर करना उतना सहज काम नहीं है। चित्र का कोई एक रंग पोंछकर उसकी जगह दूसरा रंग तुरन्त दिया जा सकता है, परन्तु मानवी हृदय के दोषों का काला रंग निकालकर उसकी जगह सद्गुणों का सात्विक सफेद रंग चढ़ाना बहुत कठिन है। कठिन भले ही हो; किन्तु असम्भव नहीं कहा जा सकता। इस विषय में श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को जो उत्तर दिया है, वह इस प्रकार है:—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

भगवद्गीता।

"हे वीर अर्जुन, निस्सन्देह यह मन चंचल और निग्रह करने में कठिन है, परन्तु फिर भी अभ्यास और वैराग्य से यह वश में किया जा सकता है।"

यदि बराबर प्रयत्न करते रहें, तो अपने दोषों को दूरकर लेना कोई असम्भव बात नहीं है। किसी कवि ने कहा है कि—

करत करत अभ्यास के जड़-मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात तें शिल पर होत निसान॥

इससे सिद्ध होता है कि अभ्यास से सब कुछ हो सकता है। फ्रांस के प्रसिद्ध वीर नेपोलियन बोनापार्ट कहा करते थे कि मनुष्य के लिए असम्भव कोई बात नहीं है। वे कहते थे कि 'असम्भव' शब्द सिर्फ मूर्ख लोगों के ही कोश में मिलता

है। अस्तु। अतएव अपने हृदय के दोषों का दूर करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को क्षण-क्षण पर इस बात का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना चाहिए कि हमारे अन्दर दोष कौन-कौन से हैं, और हमारे ऊपर उनका क्या प्रभाव है, तथा हम कहाँ तक उनमें जकड़े हुए हैं। इसी का नाम है आत्म-निरीक्षण। सदैव आत्म-निरीक्षण करते रहने की आदत डालना चाहिए। बात यह है कि जो अपने दोषों को जान ही नहीं सकता, वह उनको दूर कैसे कर सकता है? इसलिए अपना सुधार करने के लिए आत्म-निरीक्षण की बहुत आवश्यकता है। जिस प्रकार रोग का निदान जाने बिना उसकी चिकित्सा नहीं की जा सकती, और संकटों का स्वरूप जाने बिना उनको टाल नहीं सकते, उसी प्रकार अपने दूषणों की परीक्षा किये बिना उनको अपने हृदय से निकाल भी नहीं सकते। उन्नति शिखर पर पहुँचाने के लिए आत्म-निरीक्षण करना अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है। ग्रीस देश के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता आत्मवीर सुकरात अपने शिष्यों को सदैव यह उपदेश दिया करते थे :—

"Know thyself"

अर्थात् अपने को अच्छी तरह पहचानो। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि सच्ची बुद्धिमत्ता आत्मनिरीक्षण में ही है, और ऐसा ही वे सदैव अपना बर्ताव भी रखते थे। प्राचीन समय में ग्रीस देश में एक यह चाल थी कि, अपोलो देवता के मन्दिर में जाकर लोग शकुन उठाया करते थे। देवता के सामने एक तिपाई पर किसी कुमारिका को बैठालते; और फिर उसके पास धूप जलाते। उस धूप के धुएं के प्रभाव में, उस कुमारिका से प्रश्न करने पर, जो कुछ उत्तर मिलता, उसी को वे सच मानते थे। उन लोगों की

यह भावना थी कि उपर्युक्त दशा में कुमारिका जो कुछ कहती है, वह देवता की प्रेरणा से ही कहती है। एक बार उस कुमारिका से यह प्रश्न किया गया कि एथेंस नगर में सब से अधिक बुद्धिमान कौन है? इस पर उत्तर मिला कि सब से अधिक बुद्धिमान सुकरात (साक्रटीस) है। अब यह समाचार सारे नगर में फैल गया कि अपोलो देव ने सुकरात को ही सब से अधिक बुद्धिमान बतलाया। परन्तु सुकरात को यह समाचार सुनकर कुछ भी अभिमान नहीं हुआ। इसके विरुद्ध वे अपने मन में इस बात का विचार करने लगे कि अपोलो ने हमें बुद्धिमान क्यों बतलाया। अपोलो का दिया हुआ वह बुद्धिमत्ता का सार्टिफिकेट लेकर वे सब को दिखलाते नहीं फिरे! सच तो यह है कि सच्ची बुद्धिमत्ता संसार में आप ही आप प्रकट हो जाती है। अर्द्धदग्ध पुरुष ही इस संसार मे अपनी बुद्धि की बड़ाई मारते हुए देखे जाते हैं। "अधजल गागर छलकत जाय" वाली कहावत ठीक है। साक्रटीस के समान महापुरुषों की कोरी बड़ाई कभी नहीं भाती। अपोलो ने हमको ही बुद्धिमान क्यों बतलाया, इस विषय में वे ख़ूब विचार करने लगे। इसके बाद उन्होंने एथेंस के उस समय के सब प्रसिद्ध-प्रसिद्ध बुद्धिमान और चतुर लोगों से मिलने, उनसे सम्भाषण करने और उनके गुणदोषों की जांच करने का प्रारम्भ किया। वे आज किसी कवि से मिलते तो कल किसी दार्शनिक की भेंट करते। इस प्रकार एथेंस के सभी बड़े-बड़े कवियों, दार्शनिकों और राजनीतिज्ञों की उन्होंने मुलाक़ात की, उनसे वार्तालाप किया, और उनके गुण-दोषों का पूर्णतया पर्यालोचन किया। इससे उनको यह पता चला कि प्रत्येक मनुष्य अपने को तो बड़ा बुद्धिमान और दूसरे को बिलकुल मूर्ख समझता

है ! जहां देखिये वहीं कुछ न कुछ अभिमान और गर्व पाया जाता है। सभी अपने को बड़ा समझते हैं । अपनी सच्ची परीक्षा करने की कोई कोशिश नहीं करता। ऐसी दशा जब साक्रेटीस ने देखी, तब उनको इस बात का रहस्य मालूम हो गया कि अपोलो ने हमको ही बुद्धिमान क्यों बतलाया। उनका कथन था कि, हम अज्ञ हैं, हमारी बुद्धि परिमित है, हममें अनेक दोष हैं—इस बात को हम अच्छी तरह जानते हैं, और अन्य लोग नहीं जानते—इसी कारण अपोलो शायद हमको सब से अधिक बुद्धिमान बतलाता है।

प्रिय पाठको, आत्मनिरीक्षण करके अपने निज के गुण-दोषों का यथोचित और ठीक ठीक विवेचना करनेवाले साक्रेटीस के समान और कितने लोग संसार में निकलेंगे ? बुद्धिमत्ता के विषय में उनको पूरा पूरा मान मिला, फिर भी उन्होंने उसके विषय में पूरा पूरा विचार किया; और अपने को छोटा ही माना। इससे जान पड़ता है कि संसार में जो मनुष्य अपने को छोटा मान कर चलते हैं, वही वास्तव में बड़े हैं। ऐसे मनुष्यों से कभी अनीति का बर्ताव नहीं हो सकता। कहते हैं कि स्वर्ग से नीति और न्याय को पृथ्वी पर अवतीर्ण करनेवाले आत्मवीर साक्रेटीस हैं । अवश्य ही ऐसे महापुरुषों के विषय में यह कथन मिथ्या नहीं कहा जा सकता। समुद्र में गहरा गोता लगा कर जब नीचे से बालुकामय पदार्थ लाते हैं, तब उसमें कहीं मोती, कहीं सीप, कहीं कंकड़, कहीं शंख, इत्यादि भिन्न भिन्न वस्तुएं दिखाई देती हैं, इसी प्रकार जब हम मानवी हृदय के अन्दर—स्वयं अपने हृदय के अन्दर—पैठ कर खोज करते हैं, तो कहीं धैर्य, कहीं भय, कहीं दया, कहीं निर्दयता, कहीं स्वार्थ, कहीं परोप-

कार, कहीं राग, कहीं द्वेष, कहीं मद, कहीं मत्सर, कहीं सहानुभूति इत्यादि भिन्न भिन्न गुण-दोष हमको दिखाई देते हैं। मानवी हृदय गुण-दोषों का एक बड़ा विचित्र मिश्रण है; और इन्हीं स्वाभाविक गुण-दोषों के अनुसार मनुष्य का आचरण हुआ करता है। मनुष्य अपने इन स्वाभाविक गुण-दोषों में जकड़ कर उन्हीं का गुलाम बन जाता है! इनका प्रभाव मनुष्य पर कभी कभी इतना अधिक हो जाता है कि उसका विवेक कुछ भी काम नहीं करता! ऐसी दशा में अपने गुण-दोषों का विवेचन और ठीक ठीक निरीक्षण न करना बहुत बड़ी भूल होगी।

आत्म-निरीक्षण करने का निश्चय करके जब तक हम बराबर इसके लिये प्रयत्न नहीं करते रहेंगे, तब तक निरीक्षण करने की आदत हमको नहीं पड़ेगी। निरीक्षण करने का उद्देश्य मन में रखना पड़ेगा। कभी कभी यों ही आत्मनिरीक्षण करने की बात मन में लाने से काम नहीं चलेगा। हमारे जीवन में अनेक ऐसे अवसर आते हैं कि जब हम सोचा करते हैं कि हमारे हाथ से अमुक काम अच्छा नहीं हुआ, अथवा अमुक काम करने में हमने बड़ी जल्दी की। किन्तु क्या इस प्रकार के सोच-विचार से कुछ लाभ होता है? कदापि नहीं, इसका कारण यही है कि दोषों के निरीक्षण करने का हम कोई स्थायी विचार अथवा निश्चय नहीं रखते। कोई विचार यों ही स्वाभाविक मन में लाना अलग बात है, और उसके विषय में ठीक ठीक विवेचन करने का स्थायी निश्चय करना अलग बात है। जैसे कोई परीक्षा देने के लिए पुस्तकों का अध्ययन करना एक बात है; और यों ही पुस्तकें पढ़ना दूसरी बात है। परीक्षा की तैयारी का विचार

मन में लाकर जब हम अध्ययन करते हैं, तब हमारा वह अध्ययन सावधानी के साथ और नियमित रूप से होता है, अतएव वह पक्का होता है। किसी पुस्तक में शंकापूर्ण और कठिनाई के स्थान कौन कौन से हैं, उनका स्वरूप क्या है, और उन शंकाओं तथा कठिनाइयों का समाधान कैसे किया जा सकता है, इत्यादि बातों का ठीक ठीक विचार करके जो अध्ययन किया जाता है, वही अच्छा होता है। सिर्फ ऊपर ऊपर के पढ़ जाने से विशेष ज्ञान प्राप्त होने की सम्भावना नहीं रहती। इस प्रकार जब हम सदाचार-सम्बन्धी उन्नति करने का उद्देश्य रख कर अपने दोषों का निरीक्षण करने लगते हैं, तब हमें यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि हमारे दोषों के व्यापार और उनकी चेष्टाएं क्या क्या हैं, और उनसे हमको क्या क्या नुकसान होता है। आत्मनिरीक्षण का उद्देश्य मन में न रखते हुए यों ही अपने दोषों के विषय में कुछ विचार अपने मन में लाने से यह प्रगट नहीं होता कि हम उन दोषों को दूर करके अपने आप को सुधारना चाहते हैं। ऐसा अकसर देखा जाता है कि जब कोई भलामानस अच्छे उद्देश्य से भी हमारे दोष हमको दिखाने लगता है, तब हम उलटे उस पर और गरम हो उठते हैं, और इसके लिए उसको दो चार खरी-खोटी सुना कर भी अपने दोषों का ही समर्थन करने को तैयार हो जाते हैं। इस बात का अनुभव प्रत्येक को कुछ न कुछ अवश्य ही होगा। अब बतलाइये, ऐसा क्यों होना चाहिए? इसका कारण यही है कि हम अपने दोषों के निरीक्षण का सच्चा भाव अपने हृदय में नहीं रखते हैं। जब हम ऐसा उद्देश्य रखेंगे, तब दूसरे पर गरम होने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। आत्म-

निरीक्षण करके आत्मसुधार करने की इच्छा और उद्देश्य जो मनुष्य अपने मन में रखेगा, वह दूसरे की बात पर विचार करेगा, क्रुद्ध नहीं होगा। आत्मनिरीक्षण करके अपने दोषों की यथोचित पर्यालोचना करने में अहंकार बहुत विघ्न डालता है, क्योंकि दोषों का निरीक्षण करने की बुद्धि जहाँ आई कि अहंकार वृत्ति के मूल पर ही कुठाराघात होता है। कहावत है कि, "अपनी आँख का शहतीर नहीं दिखता, और दूसरे की आँख का टेंटर दिखता है।" अपने बड़े बड़े दूषण भी हमको दिखाई नहीं देते, किन्तु दूसरों की छोटी छोटी त्रुटियाँ हमको बहुत जल्द दिख जाती हैं। अहंकार का प्रभाव ही ऐसा है कि मनुष्य दूसरे की बुराई देखने में बहुत दक्ष रहता है, परन्तु उसको अपनी निज की बुराई नहीं दिखाई देती। इसी भाव को ध्यान में रख कर किसी कवि ने कहा है कि :—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखै कोय।
जो दिल खोजूं आपना, मुझसा बुरा न कोय॥

परन्तु अहंकार के कारण अपना दिल खोजने की बुद्धि ही मनुष्य में नहीं आती। यह भावना न्यूनाधिक परिमाण में हम सब में पाई जाती है कि, हम जो कुछ करते हैं, सो सब ठीक ही करते हैं। यदि ऐसा न होता, तो दूसरे के द्वारा भूल दिखलाई जाने पर हम उसको मानने में इधर-उधर कभी न करते। अपनी भूल स्पष्ट स्वीकार कर लेने की उदारता बहुत थोड़े लोगों में पाई जाती है। हम लोगों में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि यदि कभी हम अपनी भूल स्वीकार भी करेंगे, तो बहुत नाखुशी के साथ ! बालपन में मनुष्य का मन दर्पण की भाँति स्वच्छ और निर्दोष होता है, अहं-

कार से अलिप्त रहता है, यही कारण है कि, ज्ञान के किरण उसमें शीघ्रतापूर्वक प्रवेश करते रहते हैं। परन्तु मनुष्य जब कुछ प्रौढ़ होने लगता है, बालपन की वह निर्दोष वृत्ति चली जाती है, और धीरे धीरे वह अहंकार से घिरने लगता है। शीशे में जब गर्द-गुबार बैठ जाता है तब वस्तु का प्रतिबिम्ब उसमें ठीक ठीक दिखाई नहीं देता। इसी भांति अहंकार से दूषित हो गया हुआ मन वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। नैतिक वायुमंडल अहंकार के काले मेघों से जब व्याप्त हो जाता है, तब ज्ञान-सूर्य का स्वच्छ प्रकाश उसमें कैसे पड़ सकता है? आलिवर क्रामवेल का कथन है कि:—

"Paint me as I am."

अर्थात् "मुझ को वैसा ही चित्रित करो, जैसा कि मैं हूँ।" यह कथन विचारणीय है। मान लीजिये कि कोई चित्रकार, किसी की सूरत उतारते समय, उसकी सूरत की त्रुटियां न दिखलाते हुए सिर्फ उसकी सुन्दरता ही दिखलावे, तो क्या वह उसकी सच्ची तसवीर होगी? नहीं, वह उसकी काल्पनिक ही तसवीर कही जायगी। कोई चरित्रकार, किसी का चरित्रचित्रण करते समय, यदि अपने चरित्रनायक के दोष न दिखलावे, और उसके केवल गुण ही गुण दिखलावे, तो क्या कभी वह सच्चा चरित्र-लेखक माना जा सकता है? इसलिए हमको अपने दूषणों को छिपाने का प्रयत्न न करना चाहिए, किन्तु अपने नैतिक आचरण के उन दोषों की ओर पूर्ण ध्यान रख कर, अत्यन्त सावधानी के साथ, हमें उनकी जाँच करनी चाहिए। हमको यह सीखना चाहिए कि हम अपना न्याय अपने ही सामने निष्पक्ष भाव से कैसे करें। न्याय का कांटा समतोल रखना चाहिए। अहंकार-भाव के

कारण दोषों का पलड़ा हलका रखने की मनुष्य में स्वाभाविक ही प्रवृत्ति होती है, उसको भली भांति जांच कर अपने आपको ठीक ठीक तोलने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार सदैव सजग रह कर यदि अपनी आप जाँच करने लगेंगे, तो सदाचार की उन्नति अवश्य ही होती जायगी।

आत्मनिरीक्षण करके दोषों का पर्यालोचन करने में जिस प्रकार अहंभाव विघ्न डालता है, उसी भांति काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि दुर्विकारों का भी मन में प्रवेश होते ही आत्मनिरीक्षण की बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे तूफान उठने से चारों ओर धूल ही धूल छा जाती है; और मार्ग सूझ नहीं पड़ता, अथवा पानी में थोड़ी सी भी मिट्टी मिल जाने से उसकी स्वच्छता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार विचार-मल से जब हार्दिक वृत्ति दूषित हो जाती है, तब आत्मनिरीक्षण का विचार धुँधला पड़ जाता है। इससे सत्यासत्य-विवेकिनी शक्ति लुप्त हो जाती है; और ज्ञान का प्रकाश हृदय में नहीं पड़ता। इस लिए जो दोष हमारे हृदय की प्रसन्नता नष्ट कर के उसको अवनति के गर्त में ढकेल देना चाहते हैं, उनको हमें आत्मनिरीक्षण के द्वारा भली भांति पहचान लेना चाहिए; और उनको समूल नष्ट करके आत्मोन्नति करने का प्रयत्न करना चाहिए। अपना कल्याण अपने ही हाथ में है। हम यदि अपने को भली भांति पहचान लेंगे, तो इससे हमारा कल्याण होगा; और यदि नहीं पहचानेंगे, तो हमारी हानि होगी। भगवद्गीता में कहा है:—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।

मनुष्य अपना ही आप मित्र और अपना ही अपना शत्रु है। नैतिक उन्नति के भव्य और रमणीय भवन में प्रवेश करने के

लिए आत्मनिरीक्षण ही पहला द्वार है। इस द्वार को जब हम पार कर जायँगे, तभी आगे बढ़ने की आशा है; परन्तु यदि यहीं हम रुक गये, तो आगे बढ़ना असम्भव हो जायगा। इस लिए हमको नष्ट करनेवाले हमारे दुर्गुण रूपी जो शत्रु हैं, उनकी चेष्टा और उनके स्वरूप को अच्छी तरह पहचान लेना चाहिए। यह कार्य यदि आत्मनिरीक्षण के द्वारा आप ने कर लिया, तो सदाचार के मार्ग में सफलता पाने की आशा आपको बहुत कुछ हो सकती है।

सातवाँ प्रकरण ।

आत्मसंयमन ।

——:*:——

पिछले प्रकरण में हमने यह बतलाया कि, सदाचार की उन्नति करने के लिए अपने हृदय के दोषों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक है; और इसके लिए प्रत्येक मनुष्य को आत्मनिरीक्षण करने की आदत डालनी चाहिए। आत्मनिरीक्षण करके अपने दोषों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना सदाचार-सोपान को महत्वपूर्ण अंश है सही; परन्तु फिर भी, इतने से ही अभीष्टसिद्धि नहीं होगी। मानवी जीवन की सफलता तभी हो सकती है, जब उक्त दोषों का प्रभाव धीरे धीरे हृदय से घटता जावे; और अन्त में वे बिलकुल नष्ट हो जावें।

ईश्वर की सृष्टि में सज्जन दुर्जन सभी रहते हैं। समाज कितनाही सभ्य और सुशिक्षित क्यों न हो; किन्तु फिर भी थोड़े बहुत दुष्ट उसमें रहते ही हैं। इसी भांति परमेश्वर की बनाई मानवी प्रकृति निस्सन्देह एक सुन्दर वस्तु है; परन्तु फिर भी उस प्रकृति में जो स्वाभाविक दोष होते हैं, वे रहते ही हैं। प्रकृति बिलकुल निर्दोष कैसे हो सकती है। सर्वाङ्ग-सुन्दर प्रकृति किसकी होगी? जड़ प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाले दोष न्यूनाधिक परिमाण में सब जगह पाये जाते हैं। साधा-

रण मनुष्यों में हम तो कोई ऐसा प्राणी नहीं देखते कि जा प्रकृतिजन्य दोषों से सर्वथैव मुक्त हो। महाकवि कालिदास ने कहा है :—

शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य।

"शीतलता पानी का धर्म है।" इसी प्रकार प्रकृतिजन्य गुण-अवगुण मौका पाकर यदि प्रकृति में दिखाई दें, तो यह प्रकृति का साधारण धर्म ही कहा जायगा। जिस मनुष्य का स्वभाव शंकाशील है, उसको बात बात में शंका होती रहती है और वह बड़ा हैरान रहता है। क्रोधी मनुष्य को समय समय पर क्रोध पछाड़ता ही है; और उसका हृदय क्षुभित हो उठता है। जो मनुष्य लोभी है, वह मौका पाकर दूसरे का गला काटे बिना न रहेगा। जिनको डरने की आदत है, वे बिना कारण डरते रहते हैं; और इससे उनकी हानि भी कुछ कम नहीं होती। दूसरे की उन्नति देख कर जलने की जिन मनुंष्यों को आदत पड़ी होती है,वे अपने मत्सर के ही कारण त्रस्त रहते हैं। मतलब यह है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ स्वाभाविक ही प्रकृति-दोषों से बँधा हुआ है।

ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि, तो फिर इन दोषों का प्रभाव धीरे धीरे कम करके क्या इनको बिलकुल निर्मूल कर सकते हैं? इस दोषरूपी पिशाच की गति कुंठित करने के लिए क्या कोई सच्चा मंत्र है? यदि कोई उपाय नहीं होगा, तो यह पिशाच सर्वत्र संचार करके चारों ओर उपद्रव मचाता ही रहेगा! यह मानवी हृदय दोषों से व्याप्त ही रहेगा; और उन्नति की सारी आशा मिट जायगी! दुर्गुणों के कीचड़ में जहां एक बार हृदय फँस गया कि फिर उसे ऊपर कौन

निकाल सकेगा ? क्या कोई उपाय तुरन्त इसके लिए किया जा सकता है ? आत्मनिरीक्षण की आदत से दोषों का यथार्थ ज्ञान अवश्य हो जायगा, तथापि उनका नाश जब तक न होगा, तब तक लाभ ही क्या है ? रोग का निदान ठीक ठीक करना अवश्य एक महत्वपूर्ण बात है, परन्तु केवल निदान हो जाने से रोगी को क्या लाभ ? जब तक भली भांति चिकित्सा न की जाय, रोग कैसे अच्छा होगा ? उन्मत्त हाथी को शृङ्खलाओं से जकड़ कर मार्ग में लाना होता है। मतवाले अपराधी को भी बेड़ियां डालकर वश में करना होता है, उपद्रवी मनुष्य को मुसकें बांध कर सीधा करते हैं। इसी प्रकार महाबली दोषों की प्रबलता कम करके उनको नाश करने का कार्य आत्मसंयमन के द्वारा करना पड़ता है।

समाज में सर्वत्र शान्ति स्थापित करके उसकी सुख-समृद्धि बढ़ने के लिए जिस प्रकार सब सामाजिक उपद्रवों को नाश करना पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य के चित्त की स्थिरता और शांति को नष्ट करके उसको अवनति तक पहुँचानेवाले दोषों का उच्छेद आत्मसंयमन के द्वारा करना चाहिए। समाज में यदि शासन-पद्धति न हो, तो चारों ओर दुर्जनों की वृद्धि होकर झगड़ा-फिसाद और अराजकता फैल जाय, तथा समाज की दशा पतित हो जाय। इसी प्रकार आत्मसंयमन का गुण यदि मनुष्य में न होगा, तो दुर्गुणों की वृद्धि और सद्गुणों का लोप होता जायगा। हृदय की सद्वृत्तियों का नाश हो जायगा; और अनीति का साम्राज्य छा जायगा।

हृदय के दोषों की प्रबलता धीरे धीरे कम करके उनको जड़ से नाश करने के लिए, जैसा कि हमने ऊपर बतलाया,

आत्मसंयमन ही एक मात्र उत्तम उपाय है। मौका पाकर प्रकृतिजन्य दोष ज्योंही अपना सिर उठाने लगें, त्योंही आत्मसंयमन के तीक्ष्ण शस्त्र का उनपर दृढ़तापूर्वक प्रबल आघात करना चाहिए। इस प्रकार यदि बराबर हम आघात करते रहेंगे, तो दोष उभड़ने न पावेंगे; और धीरे धीरे निर्बल होकर नष्ट हो जायँगे। इसके लिए आत्मसंयमनरूपी शस्त्र पैना कर खूब तेज़ रखना चाहिये। इस शस्त्र को हम ज्यों ज्यों तीक्ष्ण करते जायँगे, त्यों त्यों हमारी नैतिक उन्नति अधिकाधिक होती जायगी; परन्तु इस शस्त्र पर जङ्ग लग कर यदि वह कुंठित हो जायगा, तो दुर्गुणों के प्रबल हो जाने के कारण नैतिक ह्रास होता जायगा। सदाचार और नीति के भव्य और सुन्दर भवन में सुख से निवास करने के लिए आत्मनिरीक्षण और आत्मसंयमन के द्वारपालों की अत्यन्त आवश्यकता है। आत्मनिरीक्षण करते हुए आत्मसंयमन करने की यदि आदत बढ़ती जायगी, तो आत्मोन्नति निस्संन्देह होती जायगी।

प्राचीन काल में ग्रीस देश के एथेंस नगर में एक बार एक ज्योतिषी आया। ज्योतिष-शास्त्र में उसकी प्रवीणता प्रसिद्ध थी। उसकी परीक्षा करने के लिए लोगों ने एक सभा की; और उसमें उसको बुलाया। उस सभा में प्रसिद्ध तत्ववेत्ता साक्रेटीस भी उपस्थित थे। सभा के कई लोगों के स्वभाव के गुण दोषों के विषय में उस ज्योतिषी से अनेक प्रश्न किये गये; और अन्त में साक्रेटीस के स्वभाव के विषय में पूछा गया। इस पर उसने कहा कि, साक्रेटीस, जान पड़ता है, बड़े क्रोधी स्वभाव का मनुष्य है। उस ज्योतिषी के मुख से यह वचन सुनते ही सभा में एकदम हँसी छा गई। साक्रेटीस को लोग

बहुत ही शान्त स्वभाव का समझते थे, इसलिए जब ज्योतिषी ने उसे क्रोधी बतलाया, तब सभी लोग उस ज्योतिषी की हँसी उड़ाने लगे! यह सारा हाल साक्रेटीस स्वयं वहां बैठे हुए देख ही रहे थे। उन्होंने जब देखा कि लोग व्यर्थ ही के लिए ज्योतिषी की हँसी कर रहे हैं, तब उन्होंने लोगों को सम्बोधन करके कहा, "भाइयो, आप लोग ज्योतिषी महाशय की व्यर्थ ही हँसी उड़ा रहे हैं। मेरे स्वभाव के विषय में ज्योतिषी जी ने जो कुछ बतलाया है, वह अक्षरशः सत्य है। इसमें आप लोगों के लिए आश्चर्य मानने योग्य कोई बात नहीं है। ज्योतिषी जी के कथनानुसार मेरा स्वभाव क्रोधी अवश्य है। हां, बात इतनी ही है कि, मुझे जब क्रोध आने लगता है, तब मैं तुरन्त ही उसे रोक लिया करता हूँ। क्रोध का विकार मेरे हृदय में उठता है; परन्तु मैं आत्मसंयमन के द्वारा उसे जहाँ का तहाँ ही दाव देता हूँ"। यह कह कर उस महापुरुष ने लोगों का समाधान किया। पाठक समझ सकते हैं कि अपने इस श्रेष्ठ आत्मनिग्रह के कारण ही साक्रेटीस इतने बड़े सदाचारी पुरुष हो गये। जो मनुष्य अपने गुणदोषों की सावधानीपूर्वक जाँच करके, दोषों को दमन करने का प्रबल प्रयत्न करता है, उसकी कीर्ति सदाचार और नीति के विषय में अवश्य ही होती है। साक्रेटीस के समान जितने भी महापुरुष संसार में हो गये हैं, उन सभी में आत्मसंयमन का श्रेष्ठ सद्गुण विशेष रूप से ज़रूर पाया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि जिन मनुष्यों का हृदय दोषों से प्रक्षुब्ध रहता है उनके हाथ से संसार के महान् कार्य कदापि नहीं हो सकते।

प्राचीन काल में इटली देश में, जूलियस सीज़र की मृत्यु के बाद बड़ी गड़बड़ी मच गई। उस समय एक तेजस्वी तारा

उदय हुआ कि जिसने चारों ओर फैले हुए अन्धकार को नष्ट किया। वह तेजस्वी तारा आगस्टस सीज़र है। रोम का पहला सार्वभौम सम्राट यही था। इतिहास से जाना जाता है कि इस महापुरुष में भी आत्मसंयमन-शक्ति विशेष थी। इजिप्ट की रानी क्लीयोपाट्रा ने अपने सौन्दर्य से और अपनी चेष्टाओं से जूलियस सीज़र और एन्टोनियस के समान पुरुषों को भी मोहित कर लिया था! एन्टोनियस तो इस रानी की चेष्टाओं में खूब ही फँस गया था। उसका वृत्तान्त पाठकों को रोम के इतिहास* में पढ़ना चाहिए। आगस्टस को भी इस स्त्री से मिलने का एक बार मौक़ा आया था; परन्तु उससे मिलते समय आगस्टस ने जान-बूझ कर अपनी गर्दन ऊपर को नहीं उठाई, उसकी ओर बिलकुल देखा ही नहीं; और समयोचित वार्तालाप करके वहाँ से लौट आया। उसके इस आत्मनिग्रह की सर्वत्र प्रशंसा की जाती है। इस प्रकार वह आत्मनिग्रह के विषय में सदैव सजग रहता था; और इसी कारण वह अपने राज्य का बहुत उत्तम प्रबन्ध कर सका। शिवा जी महाराज के आत्मदमन की एक आख्यायिका इस पुस्तक के किसी पिछले प्रकरण में लिखी जा चुकी है। अपने देश में परकीयों को दबा कर स्वराज्य स्थापना करने वाले इस महापुरुष में इतने उच्च दर्जे का आत्मदमन होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

आत्मसंयमनरूपी शस्त्र के द्वारा हृदय के दोषों से मुकाबला करने में ही सदाचार की उन्नति होती रहती है। इस

---

*यह इतिहास भी हमारी तरुण-भारत-ग्रन्थावली में निकल चुका है।

आन्मिक युद्ध में ही मानवी जीवन का सच्चा रहस्य प्रकट होता है। इसी में सच्चा पुरुषार्थ है। परन्तु हृदय के दोषों से युद्ध न करते हुए स्वयं उनके वश में हो जाना मानो अपनी कायरता दिखलाना है। अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण यदि हम अपने दोषों का प्रतोकार न कर सकेंगे, तो हम सदाचार के उच्च शिखर पर कदापि न चढ़ सकेंगे।

क्या हम नहीं देखते कि आत्मसंयमन का गुण न होने के कारण ही हज़ारों लोग अवनति के गर्त में गिर कर नाना प्रकार की यातनाएं भोग करते हैं? ज्यों ही प्रकृति में जड़ांश से प्रेरित होकर कोई भली-बुरी इच्छा उत्पन्न हुई, और मनुष्य उस इच्छा की तृप्ति करने की धुन में लगा, त्यों ही उसकी नैतिक अवनति प्रारम्भ हो जाती है।। इस प्रकार की तमोगुणमयी भौतिक इच्छा का प्रतिरोध करके जब तक उसका नियमन न किया जायगा, तब तक अन्तःकरण निर्मल नहीं रह सकता। अफीमची मनुष्य के लिए अफीम खाने का समय आया; और उसी समय यदि उसे अफीम नहीं मिली, तो उसकी क्या दशा हो जाती है? जैसे पानी के बिना मछली तड़फे, वैसे ही वह नशे के बिना तड़फने लगता है। उसकी यह दशा क्यों होती है? कारण यही है कि अपनी इच्छा को दाबने का प्रयत्न उससे कभी नहीं हुआ। व्यसन बढ़ता ही गया, और अन्त में उसने उसकी स्वतंत्रता हरण करके उसको अपना गुलाम बना लिया! ऐसा ही हाल आप प्रत्येक व्यसन का समझ लें। हृदय की वृत्तियों पर यदि हम अपना कब्जा नहीं रक्खेंगे, तो वे उभड़ती जायँगी; और अन्त में हम उनको रोकने में असमर्थ हो जायँगे। परिणाम यह होगा कि हमारा नैतिक चरित्र बिलकुल गिर जायगा। भगवद्गीता में कहा है:—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

अर्थात् इन्द्रियों और उनके विषयों में प्रीति और द्वेष अवश्य ही होते हैं। किन्तु हमको इन प्रीति और द्वेषों में न फँसना चाहिए, क्योंकि ये हमारे बटमार शत्रु हैं। हमको बरबाद किये बिना नहीं छोड़ेंगे।

विज्ञान का एक यह नियम है कि जहाँ गुरुत्वाकर्षण का मध्य होता है, उस जगह पदार्थ स्थिर रहता है। इस नियम का स्पष्ट करके दिखलाने के लिए लकड़ी की एक पुतली तैयार की जाती है। उसमें गुरुत्वाकर्षण का ऐसा प्रयोग किया जाता है कि उस पुतली को आप कैसा ही डालिये, वह बैठ ही जाती है। बस. इसी भाँति मनुष्य को आत्मसंयमन के द्वारा अपनी हार्दिक वृत्तियों को स्थिर रखने का प्रयत्न सदैव करते रहना चाहिए। गीता के दूसरे अध्याय में स्थिर बुद्धि का महत्व अच्छा बतलाया है। प्रकृतिजन्य गुण-दोषों के कारण हृदय डगमगाने लगता है। उस समय उसकी दशा तूफान में फँसी हुई नौका के समान हो जाती है। ऐसी अवस्था में आत्मसंयमन के द्वारा ही उसको स्थिर करना पड़ता है।

आत्मनिरीक्षण के प्रकरण में हमने यह बतलाया है कि अपने दोषों के निरीक्षण करने का उद्देश्य मन में रख कर उसको सिद्ध करने का निश्चय करना पड़ता है। इसी प्रकार दुर्वृत्तियों का जब हृदय में आविर्भाव होने लगता है, तब तुरन्त ही उनके नियमन करने का निश्चय करना पड़ता है। उस समय दृढ़तापूर्वक नियमन करने का प्रयत्न यदि हमसे न हो सका, तो प्रकृतिजन्य दोषों का प्रभाव, हमको न मालूम

होते हुए, हमारे हृदय पर बढ़ता जाता है। कोई भी कार्य हो, जब तक उसको सिद्ध करने का हम दृढ़तापूर्वक संकल्प नहीं करेंगे, तब तक उसमें सफलता की आशा रखना कुराशामात्र है। मानसिक धैर्य और दृढ़ निश्चय की सब जगह आवश्यकता है, और जिस जगह स्वाभाविक प्रकृति-धर्म के कारण निश्चय के डिग जाने का डर रहता है, उस जगह हमें अपने को बहुत सम्हालना पड़ता है।

आत्मसंयमन ख़ास कर तीन प्रकार का है। भगवद्गीता के विभूतियोग में श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि—

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि।

"इन्द्रियों में मन मैं हूं"। अवश्य ही सारी इन्द्रियों में मन मुख्य है, और हमारे भले-बुरे व्यवहार के सारे सूत्र इसी के हाथ में रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि राज्यसूत्र राजा के हाथ में रहते है, परन्तु, फिर भी, राजा की आज्ञा को कार्य-रूप में परिणत करने का अधिकार उसके नीचे के अधिका-रियों के ही हाथ में रहता है, और इस कारण उन अधिका-रियों का महत्व भी कम नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार व्यवहार के सब सूत्र यद्यपि ख़ास कर मन के अधीन रहते हैं, तथापि उस भले बुरे व्यवहार को कार्यरूप में परिणत करने का अधिकार दूसरी ही जगह रहता है—अर्थात् उन संकल्प-विकल्पों को कार्य का स्वरूप हमारी इन्द्रियों के द्वारा मिला करता है। ऐसी दशा में; स्थूल दृष्टि से देखते हुए, मानसिक, कायिक और वाचिक, ये तीन प्रकार की क्रियाएं हैं, और इन तीन प्रकार की क्रियाओं का नियमन भी, मानसिक, कायिक और वाचिक, इन तीन प्रकार से ही है।

अच्छा, अब, हम पहले मानसिक संयमन का विचार करेंगे। मन का इस प्रकार नियमन करना चाहिए कि, हृदय में दुष्ट संकल्प उठने ही न पावें। इस बात का पक्का निश्चय कर लेना चाहिए कि दुष्ट विचारों से अपने मन की शान्ति भंग नहीं होने देंगे। स्वाभाविक प्रकृतिधर्मों का स्वरूप भली भांति परख कर, प्रकृतिधर्म-प्रेरित बुरे विचारों का तत्काल ही नियमन करना चाहिये। यदि तत्काल ही उनका नियमन नहीं किया जाता, तो उन बुरे संकल्पों को कार्य का स्वरूप प्राप्त होने लगता है, और मनुष्य नीतिमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। शरीर में ज्वर का संचार होने के पहले ही उत्तम वैद्य जान लेता है कि, अब ज्वर आनेवाला है, और उसके प्रतीकार के लिए वह औषधि की योजना करता है। बस, इसी भांति चित्त का विक्षेप होने के पहले ही सावधानी के साथ उसकी जांच कर लेनी चाहिये, और तत्काल ही चित्त का नियमन करना चाहिए, क्योंकि चित्त जब एक बार प्रक्षुब्ध हो जाता है तब उस प्रक्षुब्धता के आवेग में मनुष्य चाहे जैसा दुष्कार्य करने को तैयार हो जाता है। चित्तक्षोभ के कारण दुष्कार्यों का घृणित स्वरूप मनुष्य के ध्यान में नहीं आता। वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान चित्त की स्थिर और शान्त अवस्था में ही हो सकता है। चित्त जब स्थिर और शान्त होता है, तभी सत्कार्यों की उत्तमता और दुष्कार्यों की निकृष्टता की कल्पना मनुष्य को होती है। इसलिए नैतिक उन्नति का सारा आधार मानसिक संयमन ही है। इस गुण की ज्यों ज्यों वृद्धि होती जायगी, त्यों त्यों नीति में सुधार होता जायगा। देखिये, संसार में जितने दुष्कार्य होते हैं, सब इसी गुण के अभाव में होते हैं। इस गुण की यदि उन्नति होती

जायगी, तो मनुष्य की हार्दिक सद्वृत्तियों का विकास भी उत्तमता से होगा, और मानवी जीवन सुखमय बन जायगा। परन्तु यह हो कैसे ? पहले तो अपने दोषों का ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की अनेक लोगों को इच्छा नहीं होती, और यदि किसी किसी को इच्छा भी होती है, तो दोषों का ज्ञान प्राप्त करके उनके नियमन करने का यथोचित प्रयत्न उनसे नहीं हो सकता। ऐसी दशा में मनुष्य प्राय: अपनी प्रकृति का ही गुलाम बन जाता है। परन्तु उन्नति और विकास ही जब कि मानवी जीवन का रहस्य है तब फिर क्या उसको सिद्ध करने के लिए हमको पूर्ण प्रयत्न न करना चाहिये ? अपनी उन्नति और प्रगति के लिए यदि हम भारी प्रयत्न न करेंगे, तो अवश्य ही हमारा जीवन गिरता जायगा। महाकवि मिल्टन ने कहा है :—

"Awake, arise, or be forever fallen."

अर्थात् "जगो, उठो, अथवा सदैव के लिए पड़े ही रहो।" निस्सन्देह, यदि समय पर नहीं जागेंगे, नहीं उठेंगे, तो फिर सदैव ही पड़े रहने की नौबत आ जायगी। महा साधु नानकजी ने भी कहा है :—

जागो रे जिन जागना, अब जागन की बार।
फेर कि जागो नानका, जब सोये पायँ पसार ॥

अवश्य ही अपनी उन्नति करने के लिए मनुष्य को सदैव सजग रहकर अविश्रान्त परिश्रम करना चाहिए। बिना कष्ट और परिश्रम किये उन्नति नहीं हो सकती। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने अपने "दासबोध" ग्रन्थ में कहा है कि, "कष्ट के बिना राज्य नहीं मिलता ; कष्ट के बिना कोई फल

नहीं मिलता ; और न बिना किये कोई कार्य सिद्ध होता है ।"
टाँकी की चोटें सहने पर ही पत्थर में देवत्तापन आता है !

अच्छा, अब कायिक संयमन का कुछ विचार करना चाहिये। प्रत्येक भला-बुरा कार्य करने के लिए पहले मन में संकल्प उठता है ; और फिर उसको सिद्ध करने के लिए मनुष्य साधारणतया हाथ, पैर इत्यादि इन्द्रियों से काम लेता है। पहले सङ्कल्प उठता है, फिर कार्य किया जाता है—यही क्रम है। ऐसी दशा में मानवी शरीर का उपयोग सत्कार्य करने में ही होना चाहिये। परमेश्वर ने हमको शरीर दिया है, सो इसलिए कि इसके द्वारा संसार में हम भले भले कार्य करके उसके सदुद्देशों में सहायता पहुँचावें। इसके विरुद्ध यदि हम अपने शरीर का दुरुपयोग करेंगे, तो अवश्य ही परमेश्वर का हम पर कोप हुए बिना न रहेगा। पहले तो बुरा विचार ही मन में लाना पाप है ; और फिर उस विचार के अनुसार शरीर से कार्य करना और भी घोर पाप है। इसलिए मनुष्य को चाहिये कि अपने शरीर की क्षण क्षण पर जांच करते रहे कि इसके द्वारा कोई बुरे कार्य तो नहीं होते हैं, कि जिनका प्रभाव न सिर्फ संसार के लिए हानिकारी है ; किन्तु हमारे जीवन को भी मिट्टी में मिलानेवाला है। महाकवि कालिदास कहते हैं :—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

—कुमारसम्भव ।

अर्थात् शरीर ही सम्पूर्ण धर्मों के साधन का मुख्य कारण है। ऐसे महत्वपूर्ण अपने इस शरीर का यथोचित नियमन करके, उसको शुद्ध और पवित्र तथा हृष्ट पुष्ट रख कर, सत्कार्य

की ही ओर उसको लगाना चाहिए। प्रसिद्ध अंगरेज़ ग्रन्थकार स्मिथ साहब कहते हैं :—

"Handsome is, that handsome does."

अर्थात् "सुन्दर वही है, जिसके कार्य सुन्दर हैं।" कई लोग इसलिए, कि हम सुन्दर दिखाई दें, अपने शरीर को नाना प्रकार से सजाया करते हैं, उनको समझ लेना चाहिए कि यदि उनके कार्य सुन्दर नहीं हैं, तो वह उनकी ऊपरी बनावट बिलकुल व्यर्थ है—सभ्य समाज में उसका कुछ भी आदर न होगा; और न उससे स्वयं उनके ही मन को सच्ची शान्ति मिलेगी।

अस्तु, अब हम तीसरे प्रकार के संयमन, अर्थात् वाक्-संयमन का थोड़ा सा विचार करेंगे। भगवद्गीता में कहा है :—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

अर्थात् जो वाणी सत्य है, प्रिय है, हितकारक है; और मन को उद्विग्न नहीं करती, वही उत्तम वाणी है। इसी प्रकार की वाणी मुख से निकालना वाङ्मय तप है। बात ऐसी कहो, जो प्यारी हो, सत्य हो और हितकारक हो, उसको सुनकर किसी का मन ऊबने न लगे। ऐसी बात न कहो कि जिससे किसी के दिल को धक्का लगे। शस्त्र की मार को एक बार मनुष्य सह सकता है; किन्तु शब्द की मार सहन करना कठिन है। अतएव जब कभी कठोर वचन बोलने का मौका आ जाय, तब जिह्वा का संयम करना चाहिए। परमेश्वर ने हमारी जिह्वा को बत्तीस दाँतों के पिंजड़े में बन्द करके ऊपर से होठों के कपाट लगा दिये हैं! इसमें उसका उद्देश्य यही है कि हमको जिह्वारूपी शस्त्र का बहुत सोच-समझ

कर उपयोग करना चाहिए। कई लोगों को बोलने की बड़ी आदत होती है। जहां एक बार उनका भाषण शुरू हुआ कि फिर बस घंटों ख़तम होने नहीं आता। सुननेवाला ऊब, जाता है। कई लोग कटु शब्दों की बौछार करने में बड़े तेज़ होते हैं। उत्तर-प्रत्युत्तर करते ही चले जाते हैं। परिणाम में मनो-मालिन्य हो जाने तक की नौबत आ जाती है। कभी कभी हाथापाई भी होने लगती है! इसलिए वाणी का संयमन तुरन्त ही करना चाहिए। मधुर वाग्विलास करके सुननेवालों को सन्तुष्ट करना चाहिए। महात्मा तुलसीदास जी ने सच ही कहा है कि—

तुलसी मीठे वचन तें, सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन एक मंत्र है, परिहरु वचन कठोर॥

परमेश्वर ने मनुष्य को वाणी का सामर्थ्य इसी लिए दिया है कि वह इसका उपयोग करके मानव जाति में प्रेम की वृद्धि करे; और एक दूसरे को कल्याणकारी उपदेश करते हुए सब लोग सुखी हों। परम पिता का यह उद्देश्य पूरा न करते हुए यदि हम परस्पर कलह, विवाद और झगड़ा-फिसाद करते हुए ईर्षा, द्वेष और वैमनस्य की वृद्धि करें, तो क्या कभी परमात्मा का उक्त पवित्र उद्देश्य पूर्ण हो सकता है?

प्रायः देखा जाता है कि मौका देख कर बोलना और मौका देख कर मौन धारण करना बहुत कम लोगों से हो सकता है। जिह्वा की प्रवृत्ति ही चूंकि बोलने की ओर होती है, अतएव उसका नियमन करना मनुष्य के लिए कठिन होता है। परन्तु मितभाषण एक बहुत बड़ा गुण है; और

जिन लोगों को इसका अभ्यास होता है, वे संसार के अनेक संकटों से बचे रहते हैं। मौन की महिमा गीता में श्रीकृष्ण जी ने यों प्रकट की है:—

मौनं चैवास्मि गुह्यानाम् ।

अर्थात् "सब गुह्यों में मौन मैं हूं"। मौन एक बड़ा भारी रहस्य है। इसका साधन करने से वाणी की शक्ति, उसकी प्रभावशालिता बढ़ती है। इस लिए वाणी का संयमन करना भी अत्यन्त आवश्यक है।

ऊपर जैसा कि हमने बतलाया, मानसिक, कायिक और वाचिक निग्रह करके चित्तवृत्तियों को स्थिर, शान्त और प्रसन्न रखने से हृदय में सद्भावों का उदय होता है, और धीरे धीरे मनुष्य के सदाचार और नीति की उन्नति होती जाती है। शरीर, वाणी और मन का नियमन करके, इनको सत्कर्यों में लगाना एक बहुत बड़ा तप है। इस तप का गीता में क्रमशः इस प्रकार वर्णन किया है:—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ २ ॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ ३ ॥

देव, ब्राह्मण, गुरु, विद्वानों की सेवा करना, पवित्र रहना, सरलता धारण करना, वीर्यरक्षापूर्वक विद्याभ्यास करते रहना, और प्राणिमात्र को किसी प्रकार का कष्ट न देना शारीरिक तप कहलाता है। मन को उद्विग्न न करनेवाला, सत्य, प्रिय

और कल्याणकारक भाषण करना और स्वाध्याय-प्रवचन का अभ्यास सदैव रखना वाङ्मय तप कहलाता है। मन प्रसन्न रखना, सौम्यता धारण करना, मन ही मन विवेक करना, मन को अपने कब्ज़े में रखना और सदैव शुद्ध ही भावनाएं मन में लाना मानसिक तप कहलाता है।

गीता के इस उपदेश के अनुसार धीरे धीरे आत्मसंयमन का अभ्यास करने से सदाचार और नीति की अवश्यही वृद्धि होगी।

आठवाँ प्रकरण।

——:*:——

सदाचार और श्रद्धा।

——:o:——

पिछले प्रकरण में यह विवेचन किया गया कि, हृदय के दोषों की ठीक ठीक पर्यालोचना करके, अत्मसंयमन के द्वारा, उन दोषों को नाश करने का यदि बराबर प्रयत्न होता रहे, तो सदाचार की उन्नति होती जाती है। अब हम इस प्रकरण में श्रद्धा के विषय में कुछ विवेचन करेंगे! श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है कि:—

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषः"

अर्थात् पुरुष श्रद्धामय है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रद्धा मानवी हृदय का एक अत्यन्त उच्च स्वाभाविक धर्म है। मानवी हृदय एक बहुत ही विचित्र वस्तु है। जैसे कुन्दन में हीरा जड़ा जाय, वैसेही परमेश्वर ने अपने परम चातुर्य से मानवी शरीर के कुन्दन में यह हृदयरूपो अत्यन्त मनोहर हीरा जड़ दिया है। हां, इस हृदयरूपी हीरे पर जब दोषों का थोड़ा बहुत मैल बैठ जावे, तब समय समय पर उसको साफ़ करके, उसका तेजस्वी और मनोहर स्वरूप स्थिर रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। यह प्रयत्न यदि हम करते रहेंगे, तो यह हृदय श्रेष्ठ सद्गुणों का एक बहुत अच्छा भांडार बन जायगा। हमने

पीछे यह कहा है कि मानवी हृदय में सद्गुण बीजरूप से उपस्थित रहते हैं। उन बीजरूप से रहनेवाले सद्गुणों में ही श्रद्धा एक उत्कृष्ट सद्गुण है।

सन्माननीय मनुष्यों के विषय में हमारे हृदय में यथोचित आदर-भाव उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि जिस हृदय में आदर-भाव न होगा, उसकी उन्नति किस प्रकार हो सकती है? यदि सत्पुरुषों के उत्तमोत्तम गुणों के विषय में हमारे मन में यथोचित आदरभाव उत्पन्न न होगा, तो फिर यही कहना पड़ेगा कि हम उन सद्गुणों का गौरव और महत्व बिलकुल पहचान ही नहीं सके। श्रेष्ठ सद्गुणों को भली भाँति पहचान कर उनके विषय में अपने हृदय में पूज्य भाव धीरे धीरे उत्पन्न करना चाहिए। महाकवि भवभूति उत्तर-रामचरित नाटक में कहते हैं :—

> व्यतिषजति पदार्थान आन्तरः कोऽपि हेतुः।
> न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते॥
> विकसति हि पतंगस्योदये पुंडरीकम्।
> द्रवति च हिमरश्मा-वुद्गते चन्द्रकान्तः॥

अर्थात् दो भिन्न भिन्न पदार्थों में जो प्रेमभाव उत्पन्न होता है, उसका कोई न कोई भीतरी कारण होता है। बाहरी कारणों से ऐसा नहीं हो सकता। देखिये, सूर्य के उदय होते ही कमल विकसित हो उठता है; और चन्द्रमा को किरणों से चन्द्रकान्त-मणि चूने लगता है—आर्द्र होकर उससे शीतल जल टपकने लगता है। महाकवि भवभूति की यह उक्ति यथार्थ जान पड़ती है, क्योंकि हमारे हृदय में जब गुणतन्तु होंगे, तभी दूसरों के गुण के विषय में आश्चर्य मालूम

होगा; और उस आश्चर्य के संस्कार उन तन्तुओं पर आघात करेंगे, इससे हृदय मधुर आनन्दध्वनि से व्याप्त होगा; और उसका विकास होगा। सरांश यह है कि अपने हृदय को इतना विशाल बनाना चाहिए कि जिससे दूसरों के श्रेष्ठ गुणों का महत्व हमारे मन में जमे; और उन गुणों के विषय में हमारे हृदय में आदर-भाव उत्पन्न हो। ऐसा करने से ही हमारा हृदय उन्नत होगा।

जब हम दूसरों के गुणों को खूब पहचान लेते हैं; और उनके विषय में हमारे हृदय में आदर-भाव बढ़ने लगता है, तब हमारे सदाचार की उन्नति होती जाती है। इसका कारण यह है कि जिन गुणों के विषय में हमारे मन में पूज्यभाव उत्पन्न होता है, उन गुणों को किसी न किसी अंश में ग्रहण करने की हमको इच्छा भी उत्पन्न होती है; और उसके लिए हम प्रयत्न भी करने लगते हैं, इससे सदाचार की वृद्धि में सहायता मिलती है। कहते हैं कि प्रसिद्ध अंगरेज़ कवि जान मिल्टन के " Paradise lost " पैराडाइज़ लास्ट नामक काव्य की सरस कविता और उसके उन्नत विचारों के कारण लार्ड मेकाले को उक्त कवि पर बड़ी श्रद्धा थी। यहां तक कि मेकाले साहब ने एक बार उक्त काव्य को आठ बार अपने हाथ से लिखा—उसकी नक़ल की! कहते हैं कि मेकाले साहब ने इसी कारण यह परिश्रम किया कि जिससे उस कवि के आंशिक गुण उनमें उतर आवें। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि मिल्टन के विषय में उनके मन में जो पूज्यभाव था, उसी के कारण उनको यह अनुकरणविषयक इच्छा उत्पन्न हुई; और अवश्य ही इससे उनको अपने जीवन में बहुत लाभ हुआ। श्रीसमर्थ रामदास स्वामी के विषय में शिवाजी महाराज को

भी बड़ा आदरभाव था ; और इससे छत्रपति के हृदय में निस्पृहता, प्रयत्नशीलता, विषय-विरक्ति इत्यादि अनेक गुणों की वृद्धि हुई थी।

महापुरुषों के गुणों के विषय में श्रद्धा और पूज्यभाव रखने से आंशिकरूप से वे गुण मनुष्य में कैसे उतर आते हैं, इसके एक दो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। इसी भांति परमेश्वर के विषय में श्रद्धा और भक्ति रखने से उसके गुणों के अनुकरण का भी हम पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ सकता है। मनुष्यों के सद्गुणों का अनुकरण करके जब कि हम अपने सदाचार की उन्नति कर सकते हैं, तब फिर परमेश्वर की अनन्त शक्ति और उसके अनन्त गुणों को धीरे धीरे पहचानने का यदि हम प्रयत्न करें—परमेश्वर पर श्रद्धा रखकर, उसके गुणों को जानकर. उनके अनुकरण करने का यदि हम प्रयत्न करें, तो अवश्य ही हम अपनी बहुत कुछ उन्नति कर सकते हैं।

परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु और सर्वसद्गुण-सम्पन्न है। वेद से लेकर और अब तक के सम्पूर्ण धर्मग्रन्थों में उसके सर्वोत्तम स्वरूप का वर्णन किया गया है। उसके सद्गुणों के मनन करने का यदि हम प्रयत्न करने लगें, तो अवश्य ही उसके सर्वोच्च स्वरूप का परिचय हमको हो जायगा ; और हमारे हृदय में ईश्वर के विषय में श्रेष्ठ आदर-भाव उत्पन्न होगा। उस आदरभाव के कारण क्या ईश्वरभक्ति से हमारा हृदय द्रवित नहीं होगा ? जब हमारा हृदय भक्ति-भाव से भर जायगा, तब वह उन्नत अवश्य ही होगा। ईश्वरभक्ति के कारण हमारे मन में यह इच्छा उत्पन्न होगी कि ईश्वर के गुण किसी न किसी अंश में हम में भी आवें। यह इच्छा उत्पन्न होने पर हमारा सुधार अवश्य होता जायगा' न्याय, दया? क्षमा,

शान्ति, इत्यादि सद्गुणों का जो निधान है, उसकी भक्ति से जब हमारा हृदय द्रवित होगा, तब अन्याय, क्रूरता, क्रोध, मत्सर, इत्यादि दुर्गुण हमारे हृदय से भग जायँगे। परमेश्वर के विस्तृत और अथाह गुण-सागर में आनन्दपूर्वक कलोलें करनेवाले हृदय में नीरसता का पता कहां से लगेगा? उन सद्गुणों का चिन्तन करनेवाला मन दुर्गुणों की ओर नहीं झुक सकता।

इसी भाँति परमेश्वर की अगाध शक्ति के विषय में जब हमको भक्ति पैदा हो जायगी—उस पर पूरी श्रद्धा और विश्वास हो जायगा, तब हमको मनुष्य की मर्यादित शक्ति का पता चलेगा। परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी, सर्वशक्तिमान है। उसकी महिमा अपार है। मनुष्य उसके सामने एक क्षुद्र प्राणी है। एक आधुनिक कवि ने ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है:—

चांद वो तारे गगन में घूमते हैं रात दिन;
तेज वो तम से दिशा होती हैं उजली वो मलिन,
वायु बहती है घटा उठती है जलती है अगिन;
फूल होता है अचानक वज्र से बढ़कर कठिन,
जिस निराले काल के भी काल के कौशल के बल।
वह करे सब काल में संसार का मंगल सकल॥

अथवा जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है कि :-

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।

अर्थात् ईश्वर की इच्छा से कभी कभी विष भी अमृत और अमृत विष हो जाता है। ऐसी जिसकी विचित्र महिमा है, जो संसार की सब क्रियाओं का करने और करानेवाला है, बड़े बड़े सम्राटों का भी जो एक मात्र सम्राट है; और "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्" जिसकी शक्ति है, उसके सामने

मनुष्य एक अत्यन्त निर्बल और निमित्त मात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में भी व्याप्त होकर जो शेष है, मनुष्य उसके सामने ऐसा ही है कि जैसे समुद्र में लवण का एक कण ! इस प्रकार परमेश्वर के विराट स्वरूप और मनुष्य के क्षुद्र स्वरूप का जब ज्ञान होने लगता है, तब उस अनन्त में इस अणु का लोप होने लगता है ; और मनुष्य के अहंकार की प्रबलता घटती जाती है। "कूपमंडूक" के न्याय से जब तक हमारी दृष्टि अपने ही भर के लिए आकुंचित रहती है, तब तक अहंभाव दृढ़ रहता है, परन्तु परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्य का जब मनुष्य निरीक्षण करने लगता है, तब अहंभाव बिलकुल गलित हो जाता है, दृष्टि व्यापक होती जाती है ; अपने परिमित ज्ञान की प्रतीति मनुष्य को होती जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर ऐज़क न्यूटन ने जब गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया, तब उसने समझा कि उस अनन्त ज्ञान में से मानो यह एक कण आज मुझे प्राप्त हुआ ! इसी प्रकार उस विज्ञानमय परमात्मा की सर्वत्र फैली हुई लीलाओं का यदि हम यथाशक्ति निरीक्षण करने लगें, तो हमारी दृष्टि का संकुचितपन नष्ट हो जायगा, वह और भी अधिक विस्तृत होगी ; और विनयभाव हमारे हृदय में उत्पन्न होगा।

परमेश्वर की विस्तृत शक्ति और अनन्त गुणों के विषय में ठीक ठीक विचार करने की आदत जब हम डालेंगे, तभी हमारे हृदय पर सुसंस्कारों का प्रभाव पड़ता जायगा। मनुष्य प्रायः अपनी सांसारिक बातों में ही विशेष निमग्न रहता है, अतएव अखिल विश्व के चालक परमेश्वर की असीम श्रेष्ठता की ठीक ठीक कल्पना सहसा उसके मन में नहीं आती ; और यदि आई भी, तो वह उसके मन में जमती

नहीं। सच तो यह है कि परमेश्वर की श्रेष्ठता का, विवेक और भक्ति के साथ, स्थिर ज्ञान जब होने लगता है, तभी हृदय उसमें तन्मय हाता है, और भक्तिरस से आर्द्र होकर उन्नत बनता है। अँधेरी रात में, जिस समय आसमान साफ़ हो, उस समय उसकी ओर दृष्टि डालने से विचारवान् मनुष्य आश्चर्ययुक्त आनन्द से मुग्ध हो जाता है। नीले रंग के आकाश में छिटके हुए तारागणों को देख कर कवि ने कहा है :--

व्योम-शोभा बढ़ति निशि में नखत-अवली पाय।

मनु सितारन-जड़ित माया-नीलपट सरसाय॥

उस आश्चर्यकारक दृश्य को देख कर ज्यों ज्यों विचार कीजिए, त्यों त्यों उस परम चतुर शिल्पी के कैशल पर अधिकाधिक कौतूहल होने लगता है। उन तारकाओं की स्थिति और गति कितनी नियमित और व्यवस्थित है कि जिसके सामने मानवी रचनाओं की अपूर्णता भली भाँति दृग्गोचर होती है। रेलवे का टाइमटेबल इतना व्यवस्थित और नियमित होता है; परन्तु फिर भी गाड़ियों की टक्कर समय समय पर हो ही जाती है, जिससे सैकड़ों मनुष्यों का संहार और लाखों रुपये की हानि हो जाती है; किन्तु असंख्य तारागण, अधड़ आकाश में, भ्रमण किया करते हैं; फिर भी कभी उनमें टक्कर नहीं लगती। इस नियम और व्यवस्था को देख कर सृष्टिनियन्ता के अगाध चातुर्य और अनुपम शक्ति के विषय में मनुष्य का मन आनन्द और आश्चर्य से चकित हो जाता है; और उसके हृदय में एक अपूर्व ज्ञान का प्रकाश होता है।

इसी भांति प्राणिसृष्टि के प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि के विषय में जब हम अच्छी तरह विचार करने लगते हैं, तब हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। प्रसिद्ध ग्रीक तत्व वेत्ता आरिस्टाटल (अरस्तू) ने इस विषय का बहुत ही आश्चर्य-जनक वृत्तान्त दिया है कि माता के पेट में गर्भ की कैसी भिन्न भिन्न दशाएं होती हैं। गर्भ रहना, पेट में उसके भिन्न भिन्न रूपान्तर, उसका पोषण, फिर उसके हाथ-पैर इत्यादि इन्द्रियों की उत्पत्ति, और अन्त में पेट से उसका निकलना इत्यादि बातें ऐसी हैं कि जिनका विचार करने से मानवी बुद्धि चक्कर में पड़ जाती है। परमात्मा की यह योजना और यह व्यवस्था सचमुच ही बड़ी विलक्षण है। इसके विषय में हम ज्यों ज्यों विचार करते जायँगे, त्यों त्यों हमारा आश्चर्य और कौतूहल बढ़ता ही जायगा। अहा! मानवी शरीर की रचना कितनी आश्चर्यकारक है! वह परमेश्वर के अगाध चातुर्य और अलौकिक कौशल का एक बहुत अच्छा नमूना है। एक कवि कहता है:—

जी लगा कर आँख की देखो क्रिया कौतुक भरी।
इस कलेजे की बनावट की लखो जादूगरी॥
देख कर भेजा विचारो फिर विमल बाजीगरी।
इस तरह सब देह की सोचो सरस कारीगरी॥
फिर बता दो यह हमें संसार के मानव सकल।
इस जगत् में है किसी की तूलिका इतनी प्रबल॥

कहते हैं कि "अपना अपनी ही समझ में नहीं आता"। यह कहावत अवश्य ही इस शरीर के विषय में बिलकुल चरितार्थ होती है। शरीर के यंत्रों और कार्यों को देखकर मन आश्चर्य से चकित हो जाता है। यह यंत्र ऐसा है कि

जिसकी कभी मरम्मत नहीं करनी पड़ती, और न घड़ी की तरह इसमें चाभी देनी पड़ती है! फिर भी इस शरीर के व्यापार कितने व्यवस्थित और नियमित रूप से चल रहे हैं! यह सम्पूर्ण प्रबन्ध सचमुच ही अतर्कनीय है। शरीर की इस यांत्रिक योजना का ज्ञान होने के कारण ही भारतवर्ष का अनीश्वरवाद दूर होने लगा; और ईश्वर के विषय में श्रद्धा और पूज्यभाव उत्पन्न होकर आस्तिकता का भाव बढ़ने लगा। इस विश्व में इसी प्रकार के अनेक चमत्कार भरे हुए हैं कि जिनका मनन करने से हृदय में श्रद्धा और भक्ति की वृद्धि होती जाती है।

हमारे बड़े बड़े धर्म-ग्रन्थों में जैसा कि बतलाया गया है कि, ईश्वर सर्वसाक्षी, सर्वज्ञ, न्यायकारी और सृष्टि का नियन्ता है। यह भावना जब हृदय में उत्पन्न हो जाती है, तब मनुष्य पापाचरण करने में प्रवृत्त नहीं होता; क्योंकि वह समझता है कि ईश्वर के सामने हम कोई अपना दुष्कार्य छिपा नहीं सकते। घर के लोगों से छिपा कर लड़के उपद्रव कर सकते हैं, परन्तु सर्वज्ञ और सर्वदर्शी परमात्मा से छिपा कर कोई कार्य नहीं किया जा सकता। अनीति से मनुष्य को बचाने के लिए ईश्वर-श्रद्धा का भाव अत्यन्त आवश्यक है।

परमेश्वर के विषय में जो श्रद्धा मनुष्य के हृदय में हो, वह शुद्ध और निर्दोष होनी चाहिए। अन्यथा नीति-दृष्टि से विशेष लाभ न होगा। परमेश्वर सर्वगुण-सम्पन्न है। ऐसी दृढ़ और शुद्ध भावना जब हृदय में जम जाती है, और इसी भावना से प्रेरित होकर जब मनुष्य आचरण करने लगता है, तब नैतिक उन्नति अवश्य ही होती जाती है। परन्तु जब मनुष्य ईश्वर के विषय में यह भावना रखता है कि, परमेश्वर

मनुष्य का बुरा-भला करनेवाली एक भारी शक्ति है; और यह भावना रख कर जब वह अपने नाना प्रकार के स्वार्थों को साधने के लिए उस शक्ति का उपयोग करने लगता है, तब उससे मनुष्य की नैतिक अवनति होती जाती है। परमेश्वर न केवल सर्वशक्तिमान ही है, किन्तु साथही वह सर्वसद्गुण-सम्पन्न भी है। ऐसी दशा में मनुष्य के दुष्कार्यों के विषय में क्या कभी भी उसकी सहानुभूति हो सकती है? यह सोचना बिलकुल ही अविवेकता है कि, किसी भी बुरे-भले कार्य में उसकी सहायता हमें मिल सकती है। इस प्रकार की कल्पना भी मन में लाना मानो ईश्वर का अक्षम्य अनादर करना है। प्रायः देखा जाता है कि अज्ञान लोग दूसरे को कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधने के लिए ईश्वर की प्रार्थना करना चाहते हैं! देवता के सामने प्राणियों के बलिदान करने का विचार भी कुछ इसी प्रकार का है। परमेश्वर के विषय में यह भाव लाना कि निरुपद्रवी प्राणियों की बलि देने से वह प्रसन्न होता है, और बलि देनेवाले मनुष्य का कल्याण करता है, बिलकुल स्वार्थपूर्ण और आत्मघातक है। परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है। क्या उसके न्याय और दया का स्रोत कभी सूख सकता है? निर्दयता क्या कभी भी उसे सहन हो सकती है? ऐसे क्रूर कार्यों से मनुष्य के पाप और अनीति की वृद्धि ही होती जायगी, इसमें सन्देह नहीं। दूसरे को कष्ट देकर अपना कल्याण कर लेने के उद्देश्य से पाखंडपूर्ण कुलाचार और मानता मानने की चाल कहीं कहीं पाई जाती है। यह चाल निन्दनीय है। ऐसे कार्यों से परमेश्वर कभी प्रसन्न नहीं हो सकता। यह परमेश्वर की केवल विडम्बना ही है!

पवित्र धर्मपुस्तकों के वचनों का विपरीत अर्थ करके परमेश्वर को प्रसन्न करने की इच्छा रखनेवालों के मार्ग भी पाखंडपूर्ण श्रेणी में ही गिने जायँगे। इस विपरीत मार्ग का अनुसरण करने के कारण प्राचीन काल में बड़े बड़े अनर्थ हो चुके हैं। औरंगज़ेब बादशाह ने छत्रपति शिवाजी महाराज के पुत्र सम्भाजी से कहा कि "तू मुसलमान हो, अन्यथा तेरा वध किया जायगा।" इस पर सम्भाजी ने स्पष्ट कह दिया कि "मैं मुसलमान नहीं हो सकता, मेरे प्राण क्यों न चले जायँ।" यह उत्तर पाकर औरंगज़ेब ने अत्यन्त कष्ट देकर बड़ी निर्दयता के साथ सम्भाजी को मरवा डाला। धार्मिक पाखंड में आकर ही उसने हिन्दुओं के मन्दिर और मूर्तियों को तुड़वा डाला। उन पर जज़िया नामक अत्याचारपूर्ण कर बैठाया। ऐसे ही अनीतिपूर्ण कार्यों से प्रजा को अप्रसन्न करने के कारण बहुत जल्द भारतवर्ष से मुग़लों का राज्य चला गया! यूरोप में भी धार्मिक पाखंड के कारण बड़े बड़े घोर अत्याचार हुए हैं। टयूटर और स्टुअर्ट नामक राजाओं के शासनकाल में तो इस धार्मिक ज़ुल्म की चरम सीमा ही हो गई थी। एक राजा यदि प्रोटेस्टेंट लोगों को सताता, तो दूसरा कैथोलिक लोगों पर अत्याचार करता। छठवें एडवर्ड के ज़माने में कैथोलिक लोगों पर ज़ुल्म हुआ; फिर आगे चलकर मेरी के ज़माने में प्रोटेस्टेंट लोगों का अत्यन्त निर्दयता के साथ वध किया गया। रिडले और लेटिमर नामक प्रोटे-स्टेंट विशपों को तो जीता जला दिया! घोर कृत्यों की हद हो गई! धर्म के विषय में इस प्रकार के राक्षसी अत्याचार करना मनुष्यता में कलंकरूप है। प्रोटेस्टेंट पंथ से कुछ भिन्न प्यूरिटिन पन्थ था। इस पन्थ के लोगों पर ऐसे ऐसे अमा-

नुषीय अत्याचार किये गये कि वे लोग अन्त में देश छोड़ कर अमेरिका को चले गये। अस्तु। सारांश यह है कि जिन मनोवृत्तियों के कारण परमेश्वर के विषय में शुद्ध प्रेम उत्पन्न नहीं होता, किन्तु मनुष्यों में परस्पर झगड़ा-फ़िसाद और द्वेष उत्पन्न होता है, तथा वे एक दूसरे की जान लेने पर उद्यत हो जाते हैं, उन राक्षसी मनोवृत्तियों को श्रद्धा का स्वरूप कभी प्राप्त नहीं हो सकता। यह धार्मिक अथवा ईश्वर-विषयक श्रद्धा नहीं है, किन्तु यह पाखंड और ईश्वर का अपमान है। धर्म के नाम पर यह घोर अधर्म है! कोई धर्म भी दूसरे को कष्ट देने की आज्ञा नहीं देता।

परमेश्वर सर्व सद्गुणों का निधान है। अतएव हमारे दुष्कार्य में वह कभी मदद न करेगा; परन्तु हां, यदि हम कोई सत्कार्य करने का प्रारम्भ करेंगे, तो अवश्य ही उसकी कृपा से हमारा वह सत्कार्य सिद्ध होगा। यह भावना मन में जम जानी चाहिए। इस भावना से हम में उत्साह, धैर्य, इत्यादि सद्गुणों की वृद्धि होगी; और हृदय की वृत्तियां उन्नत होंगी। अङ्गरेज़ी में एक कहावत है कि, जो लोग अपनी उन्नति के लिए आप ही प्रयत्न करते हैं, परमेश्वर उनकी सहायता करता है। यह कहावत बिलकुल सच है। सत्कार्य से हृदय की सद्वृत्तियां जागृत होती हैं; और यह भावना, कि सत्कार्य में परमेश्वर सहायक होता है, उन जागृत सद्वृत्तियों को और भी अधिक उत्तेजित करती है; और इससे नैतिक उन्नति होती जाती है। बड़े बड़े कार्यकर्त्ता पुरुष इसी भावना से प्रेरित होकर सत्कार्य करते रहते हैं। इतिहास में लिखा है कि शिवाजी महाराज प्रत्येक महत्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ करने के पहले भवानी का दर्शन करके उनकी आज्ञा ले लेते थे।

पहले तो उनको अपने सत्कार्यों पर विश्वास था, दूसरे उनमें शक्ति और युक्ति का भी अच्छा मेल था, तीसरे ईश्वर पर उनकी अटल श्रद्धा थी। इन्हीं सब कारणों से वे अपने प्रत्येक शुभ संकल्प में पूर्णतया सफल होते थे। कर्तव्य के साथ साथ जब श्रद्धा का भी मेल जम जाता है, तब कर्तव्य में सिद्धि अवश्य ही प्राप्त होती है। श्रद्धा के धारण करने से मनुष्य में अपने कर्तव्य के विषय में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न होती है, कार्य-क्षमता भी बढ़ती है। श्रद्धावान् पुरुष परमेश्वर पर विश्वास करके अपने सब काम करता है, और परमेश्वर के लिये ही सब कुछ करता है। स्वार्थ और अहंकार उसके हृदय में नहीं होता। इसलिए वह ईश्वरी दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर सदाचार और नीति के मार्ग में आदर्श बन जाता है।

वैदिक धर्म का तो यह मुख्य रहस्य है कि हृदय को श्रद्धायुक्त बना कर यदि निष्कामभाव से आप अपना सांसारिक कर्तव्य करते रहेंगे, तो आप सदाचारी बनेंगे। सदाचार ही लौकिक और पारलौकिक मोक्ष का मार्ग है। संसार में और जितने भी धर्म हैं; सब नीति और सदाचार का ही प्रतिपादन करते हैं। 'धर्म' शब्द मूल धातु 'धृ', जिसका अर्थ 'धारण करना' है, इससे बना है। इस लिए धर्म उन कल्याणकारी नियमों और बन्धनों का एक स्वरूप है, कि जिन पर चलने से समाज का धारण और उसका हित होता है। मनुष्य के जिस आचरण से समाज की हानि न हो, उसकी यथोचित रक्षा और उसकी उन्नति हो, वही न्यायपूर्ण आचरण धर्म का आदेश है। संसार के सब साधुसन्त और महापुरुषों ने इसी आदेश की पुकार की है। धर्म का आदेश

ईश्वर का आदेश है। ईश्वर और धर्म पर श्रद्धा रखने से हम धार्मिक और सदाचारी बनेंगे। हमारे हृदय में जब उपर्युक्त श्रद्धा का प्रकाश पड़ जायगा, तब वह कौनसा कठिन कार्य है जो हम नहीं कर सकेंगे? हम निर्भय होकर परम पिता परमेश्वर के आदेश का पालन करेंगे, जिससे मनुष्य जाति में सुख और शान्ति का विधान होगा।

नवां प्रकरण।

समाज-निर्बन्ध ।

पिछले प्रकरण में यह बतलाया गया कि धर्म, ईश्वर और सत्पुरुषों के विषय में पूज्यभाव और श्रद्धा उत्पन्न होने से हृदय की सद्वृत्तियां प्रबल होती हैं, और मनुष्य के सदाचार तथा नीति की उन्नति होती है। अब इस प्रकरण में इस विषय का थोड़ा सा विवेचन किया जायगा कि नीति पर समाज और समाज के निर्बन्ध का साधारणतया क्या प्रभाव पड़ता है।

पहले प्रकरण में यह बतलाया गया है कि मनुष्य समाज में रहनेवाला प्राणी है। मनुष्येतर प्राणियों में भी दूसरों की संगति में रहने की प्रवृत्ति दिखाई देती है; परन्तु उन में बुद्धि की शक्ति नहीं है, अतएव उनके समाजसंगठन में कोई विशेषता नहीं पाई जाती। उनमें बौद्धिक सामर्थ्य न होने के कारण उनका जीवनक्रम बिलकुल सादा रहता है, उनमें शक्ति नहीं रहती कि वे सुख के नवीन नवीन साधन उत्पन्न करके अपने जीवन को और विशेष सुखी बना सकें। परन्तु मनुष्य में बुद्धि की विशेषता है, अतएव नवीन नवीन सुख-साधन उत्पन्न करके वह मानवी जीवन को अधिक सुखी

बनाने का प्रयत्न करता रहता है। नवीन सुखसाधन उत्पन्न करके जीवन को सुखी बनाने के लिए समाज में रहना अत्यन्त आवश्यक और सुविधाजनक है, इस लिए मनुष्य अपने समाज का संगठन करके उसमें रहने लगा है। इस प्रकार से रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण, और उससे होनेवाली सुविधा के कारण, संसार में भिन्न भिन्न समाज बन गये हैं।

मनुष्य यह जानता है कि हमारे ही समान औरों को भी सुख-दुख होता है, अतएव नीतिशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों का परिचय उसे धीरे धीरे होता गया, और समाज के श्रेष्ठ तथा बुद्धिमान पुरुषों ने अपने उपदेश और कार्य से जब उन नीतिसिद्धान्तों को अच्छी तरह प्रकट कर दिया, तब समाज धीरे धीरे उन्नत होता गया। इन सामान्य सिद्धान्तों का स्पष्ट ज्ञान प्रत्येक सुसंगठित समाज में इस समय फैल गया है। इस समय कौन कह सकता है कि दूसरे का धन अन्याय से हरण करना निन्दनीय बात नहीं है? यह कौन कहेगा कि अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए दूसरे को दुःख देना नीति की दृष्टि से उचित है? आजकल यह कौन समझेगा कि, अपनी भूख मिटाने के लिए दूसरे मनुष्य का प्राण लेना घृणित कार्य नहीं है? जब हम यह सुनते हैं कि, आफ्रिका के जंगली केनिबल लोगों ने यात्री मंगोपार्क की दुर्दशा करके उसका प्राण ले लिया; और गिद्धों की भांति उसके मांस पर टूट पड़े, तब हमारे शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कौन बुद्धिमान मनुष्य कहेगा कि दूसरे से ईर्षा-मत्सर करना अनुचित बात नहीं है? आजकल के समाज में धैर्य, विनय, क्षमा, परोपकार, इत्यादि सद्गुणों की प्रशंसा

सूच करेंगे। मतलब यह है कि, नैतिक दृष्टि से बुरी-भली बातों का कुछ न कुछ ज्ञान समाज में अवश्य प्रचलित रहता है; और इस कारण समाज में एक प्रकार का नैतिक वायुमंडल उत्पन्न होता है, जिसमें रह कर प्रत्येक मनुष्य अपने नैतिक जीवन का धारण और रक्षण किया करता है।

समाज के नैतिक वायुमंडल में प्रत्येक मनुष्य जन्मता और पलता है, अतएव प्रचलित नैतिक विचारों की छाप उसके हृदय-पटल पर अंकित हो जाती है। ये नैतिक विचार प्रत्येक मनुष्य के मन पर प्रतिबिम्बित रहते हैं। यह एक सर्व-साधारण की अमूल्य धरोहर है, जिससे समाज का प्रत्येक मनुष्य लाभ उठा सकता है। इस प्रकार समाज में जब कि नैतिक विचार प्रचलित हैं, तब मनुष्य के बुरे-भले कार्यों की परीक्षा भी समाज की ओर से अचूक रीति से होती रहती है, और सत्कार्यों के विषय में प्रसन्नता और दुष्कार्यों के विषय में अप्रसन्नता समाज की ओर से सदैव ही प्रकट की जाती है। इसी लिए सत्पुरुषों ने कहा है कि जितनी बातें लोगों में निन्दनीय हैं, वे सब छोड़ दो; और जो कुछ लोग पसन्द करते हैं, वह सब हृदयपूर्वक करते रहो।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया, समाज जब कि सत्कार्य पसन्द और दुष्कार्य को नापसन्द करता है, तब मनुष्य के सदाचार पर समाज का बहुत ही हितकारक प्रभाव पड़ता रहता है। प्रत्येक मनुष्य समाज का एक अंग है. इस लिए उसको इस बात की ओर पूरा पूरा ध्यान रखना होता है कि, लोग उसके विषय में क्या कहते हैं, और लोकनिन्दा के डर से सहसा वह कोई अनीति का बर्ताव करने का साहस नहीं करता। लोकापवाद के डर से प्रत्येक मनुष्य प्रायः अपने

आचरण में चौकस रहने का प्रयत्न करता है। मनुष्य प्राणी कोई एकान्तवासी जन्तु नहीं, समाज से उसका घनिष्ट सम्बन्ध है; और अपना जीवन सुखी बनाने के लिए वह प्रत्येक विषय में समाज की सहायता पर अवलम्बित रहता है; अतएव ऐसा कोई भी व्यवहार करने का सहसा उसे साहस नहीं होता कि जिस पर समाज नाराज़ हो। इस प्रकार अनीति से परावृत्त करके नीति और सदाचार की रक्षा करने का कार्य समाज सदैव अपने दबाव से किया करता है। साधारणतया लोकापवाद के भय से मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने में खूब सावधान रहता है। साधारण मनुष्य भी कभी कभी सोचने लगता है कि चाहे प्राण भले ही क्यों न चले जायँ; किन्तु अपकीर्ति न हो।

भगवान् कृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं किः—

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादति रिच्यते।

अर्थात् प्रतिष्ठित व्यक्ति के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर है।

सम्भावित कहँ अपयश-लाहू।
मरण कोटि सम दारुण दाहू॥

गो० तु० दा०

सचमुच ही लोकापवाद का दबाव मनुष्य को बहुत रहता है। साथ ही प्रत्येक मनुष्य यह भी चाहता है कि, लोग हमको अच्छा कहें, हमारी प्रतिष्ठा बढ़े, यश हो, और इसके लिए वह प्रयत्न भी करता है। मतलब यह है कि लोकनिन्दा के भय से मनुष्य जिस प्रकार अनीति-कार्य से परावृत्त रहता है, उसी प्रकार लोक-प्रशंसा की चाह से वह सत्कार्य करने में

प्रवृत्त भी होता है। इस प्रकार समाज-निर्बन्ध का मनुष्य के आचरण पर दुहरा प्रभाव पड़ता रहता है।

यह तो सर्वसाधारण सिद्धान्त हुआ, किन्तु दुर्जनों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे हर हालत में समाज का निर्बन्ध मानेंगे ही। क्योंकि उनको अपनी प्रतिष्ठा अथवा अप्रतिष्ठा की परवा क्यों होने लगी! उनको जब प्रतिष्ठा की परवाह ही नहीं है, तब वे लोकापवाद की क्यों परवा करने लगे! अतएव अनीति का बर्ताव करने में वे बिलकुल नहीं हिचकते। यही क्यों, दिन दिन अन्याय और अनीति करने में उनका साहस बढ़ता ही जाता है। जिसको अपनी आत्मा का भय नहीं है, उसको लोगों का भय क्या है? तथापि दुर्जनों पर भी समाज का कुछ न कुछ दबाव अवश्य ही रहता है, जिससे सर्वसाधारण लोगों को सुख रहता है। मान लो, कोई ठग, लुटेरा अथवा चोर किसी को हानि पहुँचाने की इच्छा करे, तो उसे भी अपना उद्देश्य सिद्ध करने में कितनी साव-धानी रखनी पड़ती है! वह लोगों के मन में सदैव डरता रहता है। समाज का यह आतंक, यह प्रभाव अथवा दबाव, यदि न होता, तो संसार में अनीति, अत्याचार, अन्याय का बाज़ार और भी अधिक गर्म होता। समाज ही मनुष्य की भौतिक अनीति-प्रवर्तक इच्छाओं को बड़ी प्रबलता से रोकता रहता है; और इस कारण संसार के बहुत से अन्याय टलते रहते हैं।

समाज के दबाव से सर्वसाधारण की नीति-रक्षा का जो कार्य होता है, वह आप ही आप होता रहता है। समाज को उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु हाँ, सदाचार और नीति को स्थिर रखने तथा उसकी

वृद्धि करने के लिए समाज को अनेक कार्य विशेष रूप से भी करने पड़ते हैं। उन कार्यों का कुछ थोड़ा सा विचार यहाँ किया जाता है।

सब जगह सदाचार और नीति को बढ़ाने के लिए पहला मुख्य कार्य शिक्षा का नियमन करना है। समाज को शिक्षा का ऐसा विधान करना चाहिए कि जिससे लोगों का शारीरिक और मानसिक बल समान रूप से बढ़े। शरीर, मस्तिष्क, हृदय, सबकी बराबर उन्नति होनी चाहिए। हमारे देश में विदेशियों का राज्य होने के कारण, शिक्षा का उन्होंने ऐसा निर्बन्ध किया है कि जिससे यहाँ के समाज से विदेश को ही विशेष लाभ हो। हमारे लाभालाभ का उसमें ख़्याल नहीं रक्खा गया है। अतएव प्रत्येक समाज का यह कर्तव्य है कि वह अपने समाज में ऐसी ही शिक्षा का प्रचार करे कि जिससे उस समाज को पहले लाभ हो; और उसकी दुर्दशा न हो, उसमें अव्यवस्था उत्पन्न न हो।

इसके सिवाय शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे समाज के सामने व्यक्ति का महत्व न बढ़ने पावे। प्रत्येक व्यक्ति को पहले समाज का हितसाधन करते हुए अपना हितसाधन करना चाहिए। जैसे एक शरीर के हाथ, पैर, मुहँ, नाक, पेट, इत्यादि सब अवयव हैं, उसी प्रकार एक समाज के सब व्यक्ति भिन्न भिन्न अंग हैं। यदि हाथ, पैर, इत्यादि अंग केवल अपनी रक्षा करते हुए शेष अंगों की ओर ध्यान न दें, तो सभी का नाश हो जायगा। इसी प्रकार यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना ही अपना स्वार्थ सिद्ध किया करें, तो समाज के साथ ही साथ ऐसे स्वार्थी व्यक्ति भी अवश्य नष्ट हो जायँ। हमारे देश में वर्तमान समय में यही हाल हो रहा है। लोगों में अपने

समाज या देश के प्रति भक्ति नहीं है, अधिकांश लोग अपने ही स्वार्थ के उद्योग में लगे रहते हैं। इसका परिणाम जो कुछ होना चाहिए, वही हो रहा है। देश के साथ ही साथ वे अदूरदर्शी स्वार्थी व्यक्तियां भी कालान्तर में नष्ट हो जायँगी। इसलिए हमारे समाज में शिक्षा का विधान ऐसा होना चाहिए कि जिससे लोगों के अन्दर स्वदेशाभिमान और स्वदेशहित के भाव जागृत हों।

लोगों की नीति और सदाचार की रक्षा के लिए समाज को उनकी साम्पत्तिक दशा उत्तम बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि लोगों का चरितार्थ यथोचित रूप से चलने के लिए धन की बड़ी ज़रूरत है। यदि लोगों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं होगी, तो उनकी नीति अवश्य बिगड़ेगी, वे सदाचार से गिर जायँगे। कहा भी है कि:—

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

अर्थात् भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता? एक दरिद्रता सारे गुणों का नाश करती है। धनहीनता के कारण ही मनुष्यों में धूर्तता, चोरी, डकैती, स्वार्थ, नाना प्रकार के व्यभिचार और अनाचार बढ़ते हैं। इस प्रकार देश की आर्थिक अवस्था का मनुष्य के सदाचार और नीति से बहुत सम्बन्ध है। इसलिए अर्थशास्त्र के समयोपयोगी सिद्धान्तों का ज्ञान कराने की व्यवस्था समाज को करनी चाहिए। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना ऐसा आचरण रखे कि जिससे देश की आर्थिक दशा गिरने न पावे। इस बात का विचार करना चाहिए कि कौन से ऐसे कारण हैं कि जिनसे हमारे देश की सम्पत्ति नष्ट होती जाती है। उन कारणों को दूर करना

हमारा कर्तव्य है। स्वदेश के व्यापार-व्यवसाय, उद्योगधंधों की वृद्धि होनी चाहिए।

लोगों के सदाचार और नीति की रक्षा के लिए समाज में उत्तम शासन और उत्तम व्यवस्था का भी निर्बन्ध होना चाहिए। समाज का शासन और व्यवस्था यदि ठीक नहीं होती, तो लोगों के स्वाभाविक दोषों के उभड़ने का अवसर रहता है; और लोगों के सदाचार और नीति में अन्तर आ जाता है। छत्रपति शिवाजी महाराज ने जब स्वराज्य स्थापित किया, तब उसके शासन और व्यवस्था का भी उन्होंने बहुत अच्छा प्रबन्ध किया था। राज्यशासन के महत्वपूर्ण विषयों के उन्होंने अलग अलग विभाग कर दिये थे, जिन पर योग्य अधिकारियों की नियुक्ति की थी। राज्य-प्रबन्ध के कुल आठ विभाग किये थे, जिन पर अष्ट प्रधान नियुक्त किये गये थे। यह अष्टप्रधानी राज्य-व्यवस्था महाराष्ट्र राज्य में जब तक चलती रही, तब तक स्वराज्य में किसी प्रकार की अशान्ति नहीं हुई। परन्तु आगे चल कर पेशवाई में जब वह व्यवस्था भंग हो गई, तभी समाज में नीति और सदाचार का लोप होने लगा और हिन्दू राज्य विदेशियों के हाथ में चला गया।

उत्तम शिक्षा, उत्तम साम्पत्तिक दशा और उत्तम शासन-व्यवस्था होने पर भी कुछ न कुछ स्वार्थी नीतिभ्रष्ट दुर्जन लोग समय समय पर समाज की शान्ति भंग करने का प्रयत्न करते ही रहते हैं। इसलिए इनको अनीति के मार्ग से परावृत्त करने के लिए कठोर दण्ड देने का निर्बन्ध समाज की ओर से होना चाहिए। कुमार्गगामी लोगों में जब यह आतङ्क बैठ जाता है कि अपराध करने से भयंकर दण्ड मिलेगा, तब उनके पापों में कुछ न कुछ कमी अवश्य होती है।

दुर्जनों के तिरस्कार की जितनी ज़रूरत है, उतनी ही सज्जनों के पुरस्कार की भी आवश्यकता है। ऐसे साधु-सज्जन, जिनके द्वारा समाज के सदाचार और नीति की रक्षा होती रहती है, प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ होते ही हैं। इनका सन्मान और आदर होना चाहिए। उनकी सेवा करके सब प्रकार से उनको पुरस्कृत करना चाहिए। विद्वानों और सज्जनों की पूजा करने से समाज में सद्भाव की जागृति होती है। कहा है कि :—

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नो सदुपदेशम्।
यास्तेषां स्वैरकथस्ता एव भवन्ति शास्त्राणि॥

अर्थात् सज्जन पुरुष चाहे किसी समय कुछ सदुपदेश की बातें भी न करते हों, तो भी उनकी परिचर्या में लगे रहना चाहिए क्योंकि उनकी साधारण बातें भी सिखावन से भरी हुई होती हैं।

सारांश यह है कि शिक्षा, आर्थिक दशा, शासन, दुर्जनों का तिरस्कार और सज्जनों का पुरस्कार, इत्यादि सामाजिक निबन्धों का यदि उचित रूप से पालन किया जाता है, तो लोगों के सदाचार और नीति में अवश्य वृद्धि होती है।